



MAYO-111

उपनिषद्

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्ति विश्वविद्यालय
प्रयागराज

खण्ड-1 उपनिषदों की मूल अवधारणाएँ

- इकाई-1 उपनिषदों का सामान्य परिचय ईशावास्योपनिषद्- कर्मनिष्ठा की अवधारणा, विद्या और अविद्या।
इकाई-2 केनोपनिषद्- आत्म (स्व) और मन, सत्य की सहज अनुभूति, यक्षोपाख्यान का नैतिक उपदेश।
इकाई-3 कठोपनिषद्- योग की परिभाषा, आत्मा का स्वरूप, आत्मानुभूति की महत्ता

खण्ड-2 ब्रह्म विद्या और ध्यान की शिक्षा

- इकाई-4 प्रश्नोपनिषद् - प्राण और रयि (सृष्टि) की अवधारणा, पंचप्राण, छः प्रमुख प्रश्न।
इकाई-5 मुण्डकोपनिषद् - ब्रह्म विद्या के दो उपागम परा और अपरा, ब्रह्म विद्या की श्रेष्ठता।
इकाई-6 माण्डूक्य उपनिषद् - चेतना की चार अवस्थाएँ और ओंकार (अ,उ,म) अक्षरों से उसका सम्बन्ध।

खण्ड-3 आत्मा, ब्रह्म और पंचकोश की समझ

- इकाई-7 ऐतरेय उपनिषद् - आत्मा, ब्रह्माण्ड और ब्रह्म की अवधारणा।
इकाई-8 तैत्तिरीय उपनिषद् - पंचकोश की अवधारणा, शिक्षावल्ली, आनन्द वल्ली और भृगुवल्ली का सारांश।
इकाई-9 छान्दोग्य उपनिषद् - ओम का ध्यान, शांडिल्य विद्या

खण्ड-4 आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध और उपसंहार

- इकाई-10 वृहदारण्यक उपनिषद् - आत्मा और ज्ञान की अवधारणा आत्मा और परमात्मा का संयोग
इकाई-11 श्वेताश्विनोपनिषद्- ध्यानयोग की विधि और महत्व, ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान मोक्ष प्राप्ति
इकाई-12 योगराजोपनिषद्



उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

एम.ए.वाई.ओ.— 111 (MAYO-111)

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

आचार्य सत्यकाम —कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति —

डॉ. मीरा पाल, प्रभारी निदेशक	स्वास्थ्य विज्ञान विद्याशाखा UPRTOU
डॉ. अतुल मिश्रा, असि, प्रोफेसर (सं.)	दर्शन शास्त्र, UPRTOU
श्री अमित कुमार सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर (सं.)	योग, UPRTOU
श्री अनुराग सोनी, असि, प्रोफेसर	योग, आर.एम.एल.यू., अयोध्या
श्री अनुराग शुक्ला, असिस्टेंट प्रोफेसर (सं.)	योग, UPRTOU
श्री निकेत सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर (सं.)	योग, UPRTOU
सुश्री जूमी सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर (सं.)	योग, UPRTOU

लेखक —

श्री अनुराग शुक्ला — सहायक आचार्य (योग) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

सम्पादक —

प्रो. जटाशंकर — पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

परिभाषक —

डॉ. मीरा पाल — प्रभारी निदेशक, स्वास्थ्य विज्ञान विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

समन्वयक —

श्री अमित कुमार सिंह — सहायक आचार्य (योग) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

प्रथम खण्ड – उपनिषदों की मूल अवधारणाएँ

खण्ड परिचय

प्रथम खण्ड वास्तव में उपनिषदों की मूलभूत नींव को प्रस्तुत करता है। इसमें सबसे पहले ईशावास्य उपनिषद के माध्यम से यह समझाया गया है कि मनुष्य को कर्मयोग के मार्ग पर चलते हुए जीवन में संतुलन बनाए रखना चाहिए। विद्या और अविद्या की अवधारणाएँ यहाँ यह स्पष्ट करती हैं कि केवल बाहरी ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि आत्मज्ञान भी उतना ही आवश्यक है। ऋत का ज्ञान हमें ब्रह्मांडीय नियमों और सत्य के साथ सामंजस्य स्थापित करना सिखाता है, जबकि आत्मभाव व्यक्ति को अपने भीतर झाँकने और आत्मा की पहचान करने की प्रेरणा देता है। इसके बाद आत्मा और मन के संबंध पर चर्चा की गई है, जहाँ सत्य का अनुभव करने की क्षमता और क्षमा व ध्यान जैसे नैतिक उपदेशों को जीवन में अपनाने की आवश्यकता बताई गई है। यह भाग व्यक्ति को मानसिक शांति और नैतिक दृढ़ता प्रदान करता है।

कठोपनिषद की व्याख्या में योग की परिभाषा दी गई है, जो केवल शारीरिक अभ्यास नहीं बल्कि आत्मा के स्वरूप को समझने और आत्मानुभूति प्राप्त करने का साधन है। आत्मानुभूति की महत्ता यहाँ विशेष रूप से रेखांकित की गई है, क्योंकि यही जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। इस प्रकार प्रथम खण्ड उपनिषदों के अध्ययन की आधारशिला है। यह विद्यार्थियों को कर्मयोग, आत्मा और मन के संबंध, सत्य के अनुभव, क्षमा और ध्यान की नैतिकता, तथा योग और आत्मानुभूति की गहराई से परिचय कराता है। यह खण्ड न केवल दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है बल्कि जीवन जीने की कला को भी सरल रूप में प्रस्तुत करता है।

उपनिषदों का सामान्य परिचय-ईशावास्योपनिषद् कर्मनिष्ठा की अवधारणा, विद्या और अविद्या

इकाई की संरचना

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ
- 1.3 उपनिषदों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
- 1.4 उपनिषदों की संख्या और वर्गीकरण
- 1.5 उपनिषदों का वैदिक साहित्य में स्थान
- 1.6 उपनिषदों के प्रमुख विषय
- 1.7 ईशावास्योपनिषद् का परिचय
- 1.8 ईशावास्योपनिषद् में कर्मनिष्ठा की अवधारणा
- 1.9 विद्या और अविद्या की अवधारणा
- 1.10 ब्रह्म का ज्ञान
- 1.11 आत्मभाव की अवधारणा
- 1.12 ईशावास्योपनिषद् का दार्शनिक महत्व
- 1.13 सारांश
- 1.14 बोध प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन और अध्यात्म के इतिहास में उपनिषदों का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण और गौरवपूर्ण है। उपनिषद् भारतीय संस्कृति की वह अमूल्य धरोहर हैं जिन्होंने न केवल भारतीय दार्शनिक चिंतन को गहराई प्रदान की बल्कि विश्व के अनेक विद्वानों और दार्शनिकों को भी प्रभावित किया। उपनिषद् वेदों के अंतिम भाग हैं और इसीलिए इन्हें वेदांत भी कहा जाता है। वेदांत शब्द का अर्थ है वेदों का अंत अर्थात् वेदों का सार या निष्कर्ष। उपनिषदों में जो ज्ञान निहित है वह मानव जीवन के सबसे गहन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करता है। ये प्रश्न हैं कि मैं कौन हूँ, इस संसार की वास्तविकता क्या है, ईश्वर या परम सत्ता क्या है, जीवन का अंतिम लक्ष्य क्या है और मृत्यु के बाद क्या होता है।

उपनिषदों की रचना वैदिक काल में हुई और ये गुरु-शिष्य परंपरा में मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते रहे। इनमें जो दार्शनिक विचार प्रस्तुत किए गए हैं वे इतने गहन और सार्वभौमिक हैं कि आज भी प्रासंगिक हैं। उपनिषदों ने आत्मा और ब्रह्म की एकता का जो सिद्धांत



प्रतिपादित किया वह भारतीय दर्शन का केंद्रीय विचार बन गया। इस इकाई में हम उपनिषदों के सामान्य परिचय के साथ-साथ विशेष रूप से ईशावास्योपनिषद् का अध्ययन करेंगे जो अपने लघु आकार के बावजूद अत्यंत गहन दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण है।

1.2 उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

उपनिषद् शब्द संस्कृत भाषा का है और इसकी व्युत्पत्ति को समझना इसके वास्तविक अर्थ को जानने के लिए आवश्यक है। उपनिषद् शब्द तीन भागों से मिलकर बना है। पहला भाग है उप जिसका अर्थ है समीप या निकट। दूसरा भाग है नि जिसका अर्थ है नीचे या विनम्रता से। तीसरा भाग है षद् जो सद् धातु से बना है और जिसके तीन अर्थ हैं। पहला अर्थ है बैठना, दूसरा अर्थ है नष्ट करना और तीसरा अर्थ है शिथिल करना या ढीला करना।

इस प्रकार उपनिषद् शब्द का पहला अर्थ यह है कि गुरु के समीप नीचे बैठकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाए वह उपनिषद् है। प्राचीन काल में शिष्य गुरु के चरणों के समीप बैठकर विनम्रता से ज्ञान ग्रहण करते थे। यह ज्ञान गुप्त और रहस्यमय था जो केवल योग्य और जिज्ञासु शिष्यों को ही दिया जाता था। दूसरा अर्थ यह है कि उपनिषद् वह ज्ञान है जो अज्ञान को नष्ट करता है। जब साधक उपनिषदों का अध्ययन करता है तो उसके मन में व्याप्त अविद्या और भ्रम दूर हो जाते हैं। तीसरा अर्थ यह है कि उपनिषद् वह ज्ञान है जो संसार के बंधनों को शिथिल करता है और जीव को मोक्ष की ओर ले जाता है। आचार्य शंकर ने उपनिषद् शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि उपनिषद् वह विद्या है जो परब्रह्म का ज्ञान कराती है और अविद्या का नाश करती है। इस प्रकार उपनिषद् केवल एक ग्रंथ नहीं बल्कि एक विशेष प्रकार का ज्ञान है जो आत्मा और परमात्मा के संबंध को स्पष्ट करता है। उपनिषदों को ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है क्योंकि इनका मुख्य विषय ब्रह्म का ज्ञान है। इन्हें आध्यात्मविद्या भी कहते हैं क्योंकि ये आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं। इस प्रकार उपनिषद् शब्द अपने आप में एक गहन अर्थ समेटे हुए है जो इन ग्रंथों के महत्व और उद्देश्य को स्पष्ट करता है।

1.3 उपनिषदों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

उपनिषदों के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है किंतु सामान्यतः यह माना जाता है कि प्राचीनतम उपनिषदों की रचना लगभग 800 से 500 ईसा पूर्व के मध्य हुई। इस काल को उपनिषद् काल या दार्शनिक युग भी कहा जाता है। यह वह समय था जब भारत में बौद्धिक और दार्शनिक क्रांति हो रही थी। इसी काल में बुद्ध और महावीर जैसे महान चिंतकों का जन्म हुआ। उपनिषदों की रचना इसी बौद्धिक जागरण का एक महत्वपूर्ण अंग थी।

वैदिक साहित्य के विकास को समझने के लिए हमें उसके चार भागों को जानना होगा। पहला भाग है संहिता जिसमें मंत्र और स्तुतियाँ हैं। दूसरा भाग है ब्राह्मण जिसमें यज्ञ विधियों और कर्मकांड का वर्णन है। तीसरा भाग है आरण्यक जो वानप्रस्थियों के लिए रचे गए और जिनमें कर्मकांड से ज्ञान की ओर



संक्रमण दिखाई देता है। चौथा और अंतिम भाग है उपनिषद् जो पूर्णतः दार्शनिक और आध्यात्मिक विषयों पर केंद्रित हैं। इस प्रकार उपनिषद् वैदिक चिंतन के विकास का शिखर हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिषद् उस काल में रचे गए जब भारतीय समाज में कर्मकांड की प्रधानता थी और यज्ञ-हवन को धर्म का मुख्य अंग माना जाता था। किंतु कुछ चिंतनशील ऋषियों ने इस बाह्य कर्मकांड से आगे बढ़कर आंतरिक ज्ञान और आत्मानुभूति पर बल दिया। उन्होंने प्रश्न किया कि यज्ञ करने वाला कौन है, जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है और इस दृश्य जगत के पीछे कौन सी सत्ता है। इन गहन प्रश्नों के उत्तर की खोज में उपनिषदों का जन्म हुआ। उपनिषद् इस प्रकार कर्मकांड से ज्ञान की ओर, बाह्य से आंतरिक की ओर और अनेकता से एकता की ओर संक्रमण का प्रतीक हैं।

बोध प्रश्न—रिक्त स्थान भरिए

1. उपनिषदों को ----- भी कहा जाता है।
 2. ईशावास्योपनिषद् ----- यजुर्वेद से संबंधित है।
 3. अहं ब्रह्मास्मि महावाक्य ----- उपनिषद् का है।
 4. प्रस्थानत्रयी में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और ----- सम्मिलित हैं।
 5. उपनिषदों का रचनाकाल लगभग ----- से ----- ईसा पूर्व माना जाता है।
 6. ब्रह्म को ----- अर्थात् सत् चित् और आनंद स्वरूप कहा गया है।
 7. ईशावास्योपनिषद् में कुल ----- मंत्र हैं।
 8. मुक्तिकोपनिषद् में ----- उपनिषदों की सूची है।
 9. वैदिक साहित्य के चार भाग हैं रु संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और -----।
 10. जो सभी प्राणियों में आत्मा देखता है वह किसी से ----- नहीं करता।
-

1.4 उपनिषदों की संख्या और वर्गीकरण

उपनिषदों की कुल संख्या के विषय में विभिन्न मत हैं। मुक्तिकोपनिषद् में 108 उपनिषदों की सूची दी गई है और यह संख्या परंपरागत रूप से स्वीकृत है। किंतु कुछ विद्वान 200 से अधिक उपनिषदों का उल्लेख करते हैं। इनमें से कई उपनिषद् बाद के काल में रचे गए और इन्हें गौण या सांप्रदायिक उपनिषद् कहा जाता है। मुख्य और प्राचीन उपनिषदों की संख्या दस से तेरह मानी जाती है जिन पर आचार्य शंकर ने भाष्य लिखा है।

प्रमुख दस उपनिषद् इस प्रकार हैं। ईशावास्योपनिषद् जो शुक्ल यजुर्वेद से संबंधित है और सबसे छोटा उपनिषद् है। केनोपनिषद् जो सामवेद से संबंधित है। कठोपनिषद् जो कृष्ण यजुर्वेद से संबंधित है और जिसमें यम और नचिकेता का प्रसिद्ध संवाद है। प्रश्नोपनिषद् जो अथर्ववेद से संबंधित है। मुण्डकोपनिषद् जो अथर्ववेद से संबंधित है। माण्डूक्योपनिषद् जो अथर्ववेद से संबंधित है और सबसे छोटे उपनिषदों में से एक है। तैत्तिरीयोपनिषद् जो कृष्ण यजुर्वेद से संबंधित है। ऐतरेयोपनिषद् जो ऋग्वेद से संबंधित है।

छान्दोग्योपनिषद् जो सामवेद से संबंधित है और सबसे बड़े उपनिषदों में से एक है। बृहदारण्यकोपनिषद् जो शुक्ल यजुर्वेद से संबंधित है और सबसे बड़ा उपनिषद् है।

उपनिषदों का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है। वेद के आधार पर इन्हें चार भागों में बाँटा जाता है। ऋग्वेद के उपनिषद् जैसे ऐतरेय। यजुर्वेद के उपनिषद् जैसे ईश, कठ, तैत्तिरीय और बृहदारण्यक। सामवेद के उपनिषद् जैसे केन और छान्दोग्य। अथर्ववेद के उपनिषद् जैसे प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य। विषय के आधार पर भी उपनिषदों का वर्गीकरण किया जाता है जैसे सामान्य वेदांत उपनिषद्, संन्यास उपनिषद्, शैव उपनिषद्, वैष्णव उपनिषद्, शाक्त उपनिषद् और योग उपनिषद्। किंतु मुख्य और प्राचीन उपनिषद् सामान्य वेदांत उपनिषद् की श्रेणी में आते हैं।

1.5 उपनिषदों का वैदिक साहित्य में स्थान

वैदिक साहित्य भारतीय संस्कृति का मूल आधार है और उपनिषद् इस साहित्य का सबसे दार्शनिक और आध्यात्मिक भाग हैं। वेदों को श्रुति कहा जाता है अर्थात् सुना हुआ ज्ञान। ऋषियों ने इस ज्ञान को ध्यान और साधना द्वारा प्राप्त किया और इसे अपने शिष्यों को सुनाया। इस प्रकार यह ज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परंपरा से हस्तांतरित होता रहा। उपनिषद् भी श्रुति का भाग हैं और इसीलिए इन्हें अपौरुषेय अर्थात् किसी व्यक्ति द्वारा रचित नहीं माना जाता।

वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान अंत में है इसीलिए इन्हें वेदांत कहा जाता है। किंतु अंत में होने का अर्थ कम महत्वपूर्ण होना नहीं बल्कि यह वेदों का सार और निष्कर्ष है। जैसे किसी पुस्तक का निष्कर्ष सबसे महत्वपूर्ण होता है वैसे ही वेदों का निष्कर्ष उपनिषद् हैं। संहिता भाग में देवताओं की स्तुतियाँ हैं, ब्राह्मण भाग में कर्मकांड है, आरण्यक में उपासना है और उपनिषद् में ज्ञान है। इस प्रकार वैदिक साहित्य कर्म से उपासना और उपासना से ज्ञान की ओर बढ़ता है और उपनिषद् इस यात्रा का अंतिम और सर्वोच्च पड़ाव हैं।

उपनिषदों को प्रस्थानत्रयी में भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रस्थानत्रयी का अर्थ है तीन प्रमुख ग्रंथ जो भारतीय दर्शन के मूल आधार हैं। ये तीन ग्रंथ हैं उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता। उपनिषदों को श्रुति प्रस्थान कहा जाता है, ब्रह्मसूत्र को न्याय प्रस्थान कहा जाता है और गीता को स्मृति प्रस्थान कहा जाता है। प्रत्येक वेदांत आचार्य ने इन तीनों ग्रंथों पर भाष्य लिखकर अपने सिद्धांत की पुष्टि की है। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् भारतीय दर्शन के मूल स्रोत हैं और इनके बिना भारतीय दार्शनिक परंपरा को समझना संभव नहीं है।

1.6 उपनिषदों के प्रमुख विषय

उपनिषदों में अनेक दार्शनिक और आध्यात्मिक विषयों पर गहन चिंतन प्रस्तुत किया गया है। इनका मुख्य विषय ब्रह्म और आत्माका स्वरूप तथा इन दोनों का परस्पर संबंध है। उपनिषदों का केंद्रीय सिद्धांत यह है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। यह सिद्धांत विभिन्न महावाक्यों में व्यक्त हुआ है जैसे तत्त्वमसि अर्थात् तू



वही है, अहं ब्रह्मास्मि अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, अयमात्मा ब्रह्म अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है और प्रज्ञानं ब्रह्म अर्थात् चेतना ब्रह्म है।

ब्रह्म उपनिषदों का सबसे महत्वपूर्ण विषय है। ब्रह्म को परम सत्य, अंतिम वास्तविकता और समस्त जगत् का कारण माना गया है। ब्रह्म को सच्चिदानंद कहा गया है अर्थात् सत्, चित् और आनंद स्वरूप। ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी। निर्गुण ब्रह्म सभी विशेषणों से परे है जबकि सगुण ब्रह्म ईश्वर के रूप में जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करता है। आत्मा उपनिषदों का दूसरा महत्वपूर्ण विषय है। आत्मा जीव का वास्तविक स्वरूप है जो शरीर, मन और बुद्धि से भिन्न है। आत्मा अजर, अमर और नित्य है। यही आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में ब्रह्म के समान है।

उपनिषदों में जगत् की उत्पत्ति और स्वरूप पर भी विचार किया गया है। जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है, ब्रह्म में स्थित रहता है और अंत में ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। कुछ उपनिषदों में जगत् को माया या अध्यास माना गया है जबकि कुछ में इसे ब्रह्म की अभिव्यक्ति माना गया है। मोक्ष उपनिषदों का अंतिम लक्ष्य है। मोक्ष का अर्थ है संसार के बंधनों से मुक्ति और ब्रह्म का साक्षात्कार। यह ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है। जब जीव अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है और आत्मा तथा ब्रह्म की एकता का अनुभव कर लेता है तब वह मुक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में विद्या और अविद्या, कर्म और ज्ञान, जीवन और मृत्यु, नैतिकता और साधना जैसे विषयों पर भी गहन चर्चा मिलती है।

1.7 ईशावास्योपनिषद् का परिचय

ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के चालीसवें अध्याय का अंश है। यह एकमात्र ऐसा उपनिषद् है जो संहिता भाग में स्थित है अन्य सभी उपनिषद् ब्राह्मण या आरण्यक भागों में हैं। इस कारण इसे संहितोपनिषद् भी कहा जाता है। इस उपनिषद् में कुल अठारह मंत्र हैं और यह सबसे छोटे उपनिषदों में से एक है। किंतु अपने लघु आकार के बावजूद यह अत्यंत गहन दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण है।

इस उपनिषद् का नाम ईशावास्य इसलिए है क्योंकि इसका प्रथम मंत्र ईशावास्यमिदं से आरंभ होता है। इसका अर्थ है कि यह समस्त जगत् ईश्वर से आच्छादित है या ईश्वर में व्याप्त है। यह वाक्य उपनिषद् के मूल संदेश को व्यक्त करता है कि ईश्वर सर्वव्यापक है और संपूर्ण सृष्टि में विद्यमान है। जो व्यक्ति इस सत्य को समझ लेता है वह संसार में रहते हुए भी मुक्त रहता है। ईशावास्योपनिषद् में कर्म और ज्ञान का समन्वय, विद्या और अविद्या का सामंजस्य, संभूति और असंभूति का रहस्य तथा मृत्यु और अमृतत्व का मार्ग प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य शंकर ने इस उपनिषद् पर भाष्य लिखा है जिसमें उन्होंने अद्वैत वेदांत के दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त रामानुज, मध्व और अन्य आचार्यों ने भी इस पर टीकाएँ लिखी हैं। आधुनिक काल में महात्मा गांधी इस उपनिषद् से अत्यंत प्रभावित थे और उन्होंने इसके प्रथम मंत्र को अपने जीवन का आदर्श माना। इस उपनिषद् की विशेषता यह है कि यह न केवल त्याग और वैराग्य की



बात करता है बल्कि कर्म और सांसारिक जीवन को भी आध्यात्मिक दृष्टि से देखने की प्रेरणा देता है। यह उपनिषद् गृहस्थों के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है जितना संन्यासियों के लिए।

1.8 ईशावास्योपनिषद् में कर्मनिष्ठा की अवधारणा

ईशावास्योपनिषद् में कर्मनिष्ठा की जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है वह भारतीय दर्शन में अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस उपनिषद् का दूसरा मंत्र कहता है कि मनुष्य को कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए। यह मंत्र स्पष्ट करता है कि जीवन से पलायन नहीं बल्कि कर्मपूर्ण जीवन ही आदर्श है। किंतु यह कर्म आसक्ति रहित होना चाहिए। मनुष्य को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए किंतु उनके फल में आसक्त नहीं होना चाहिए। यही निष्काम कर्म का सिद्धांत है जो बाद में गीता में विस्तार से प्रस्तुत किया गया।

उपनिषद् का पहला मंत्र कहता है कि समस्त जगत् ईश्वर से व्याप्त है इसलिए त्याग के द्वारा भोग करो और किसी के धन का लोभ मत करो। यहाँ त्याग और भोग का जो समन्वय प्रस्तुत किया गया है वह अत्यंत गहन है। त्याग का अर्थ संसार को छोड़ना नहीं बल्कि आसक्ति का त्याग है। जब व्यक्ति यह समझ लेता है कि सब कुछ ईश्वर का है तो वह भोग करते हुए भी अनासक्त रहता है। यही सच्चा त्याग है। इस प्रकार कर्म और त्याग, भोग और वैराग्य का अद्भुत समन्वय इस उपनिषद् में प्रस्तुत किया गया है।

कर्मनिष्ठा का एक अन्य पक्ष यह है कि कर्म बंधन का कारण नहीं बनता जब वह ईश्वर को समर्पित होकर किया जाए। जो व्यक्ति सभी कर्मों को ईश्वर की सेवा मानकर करता है और फल की चिंता नहीं करता वह कर्म करते हुए भी मुक्त रहता है। उपनिषद् यह भी स्पष्ट करता है कि जो लोग आत्मा का हनन करते हैं अर्थात् आत्मज्ञान की उपेक्षा करते हैं और केवल भौतिक सुखों में लिप्त रहते हैं वे अंधकारमय लोकों को प्राप्त होते हैं। इसका अर्थ यह है कि कर्म आवश्यक है किंतु केवल भौतिक कर्म पर्याप्त नहीं है। कर्म के साथ आत्मज्ञान भी आवश्यक है। इस प्रकार ईशावास्योपनिषद् कर्म और ज्ञान दोनों के महत्व को स्वीकार करता है और दोनों के समन्वय पर बल देता है।

इस उपनिषद् की कर्मनिष्ठा की अवधारणा व्यावहारिक जीवन के लिए अत्यंत प्रासंगिक है। यह हमें सिखाती है कि संसार से भागना समाधान नहीं है बल्कि संसार में रहते हुए अनासक्त भाव से कर्म करना ही सच्ची आध्यात्मिकता है। गृहस्थ व्यक्ति भी अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्त कर सकता है यदि वह सही दृष्टिकोण रखे। यह दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति की विशेषता है जो जीवन के प्रति सकारात्मक और समग्र है। जीवन को नकारने के बजाय जीवन को आध्यात्मिक बनाने का संदेश इस उपनिषद् में निहित है।

1.9 विद्या और अविद्या की अवधारणा

ईशावास्योपनिषद् के नवें से ग्यारहवें मंत्रों में विद्या और अविद्या की अवधारणा पर गहन विचार प्रस्तुत किया गया है। इन मंत्रों की व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से की है किंतु मूल संदेश यह है

कि न तो केवल विद्या पर्याप्त है और न केवल अविद्या बल्कि दोनों का समन्वित ज्ञान आवश्यक है। उपनिषद् कहता है कि जो केवल अविद्या की उपासना करते हैं वे अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो केवल विद्या में रत रहते हैं वे और भी गहरे अंधकार में जाते हैं। यह कथन पहली दृष्टि में विरोधाभासी लगता है किंतु इसका गहरा अर्थ है।

अविद्या शब्द का सामान्य अर्थ अज्ञान है किंतु इस संदर्भ में इसका अर्थ कर्म या उपासना भी लिया गया है। विद्या का अर्थ ज्ञान है विशेषकर ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान। उपनिषद् यह बताता है कि जो व्यक्ति केवल कर्मकांड और अनुष्ठानों में लगा रहता है किंतु ज्ञान की ओर ध्यान नहीं देता वह जीवन के वास्तविक लक्ष्य से चूक जाता है। दूसरी ओर जो व्यक्ति केवल सैद्धांतिक ज्ञान में लगा रहता है किंतु व्यावहारिक साधना नहीं करता वह भी भटक जाता है। सच्चा मार्ग विद्या और अविद्या दोनों का समन्वय है। कर्म और उपासना से चित्त शुद्ध होता है और ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। दोनों साथ-साथ चलने चाहिए।

आचार्य शंकर के अनुसार अविद्या का अर्थ है वेदोक्त कर्म जैसे यज्ञ, दान, तप आदि और विद्या का अर्थ है देवताओं का ज्ञान या उपासना। जो केवल कर्म करता है वह पितृयान से चंद्रलोक जाता है और वहाँ से पुनः लौटता है। जो केवल देवताओं की उपासना करता है वह देवयान से देवलोक जाता है किंतु वहाँ भी शाश्वत नहीं रहता। किंतु जो दोनों को समझकर समन्वित साधना करता है वह अविद्या से मृत्यु को पार करता है और विद्या से अमृतत्व प्राप्त करता है। यहाँ मृत्यु का अर्थ है पुनर्जन्म का चक्र और अमृतत्व का अर्थ है मोक्ष या जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति।

इस अवधारणा का व्यावहारिक महत्व यह है कि आध्यात्मिक जीवन में संतुलन आवश्यक है। केवल पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं है और केवल अंधश्रद्धापूर्ण कर्मकांड भी पर्याप्त नहीं है। सच्चा साधक वह है जो ज्ञान और कर्म दोनों को महत्व देता है। वह शास्त्रों का अध्ययन करता है, गुरु से ज्ञान प्राप्त करता है और साथ ही साधना, सेवा और कर्म भी करता है। यह समन्वयवादी दृष्टिकोण भारतीय दर्शन की विशेषता है जो एकांगी नहीं बल्कि समग्र है। ईशावास्योपनिषद् इस समग्र दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है।

बोध प्रश्न—बहु विकल्पीय

1. उपनिषद् शब्द में उप उपसर्ग का अर्थ है?
(अ) दूर (ब) समीप (स) ऊपर (द) नीचे
2. ईशावास्योपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
(अ) ऋग्वेद (ब) सामवेद (स) शुक्ल यजुर्वेद (द) अथर्ववेद
3. ईशावास्योपनिषद् में कुल कितने मंत्र हैं?
(अ) 12 (ब) 15 (स) 18 (द) 21



4. मुक्तिकोपनिषद् में कितने उपनिषदों की सूची दी गई है?
(अ) 10 (ब) 52 (स) 108 (द) 200
5. प्रस्थानत्रयी में कौन सा ग्रंथ सम्मिलित नहीं है?
(अ) उपनिषद् (ब) ब्रह्मसूत्र (स) भगवद्गीता (द) रामायण
6. उपनिषदों को किस नाम से भी जाना जाता है?
(अ) पुराण (ब) वेदांत (स) स्मृति (द) आगम
7. ईशावास्योपनिषद् का प्रथम मंत्र किस शब्द से आरंभ होता है?
(अ) ॐ (ब) ईशावास्यम् (स) अथ (द) शांति

1.10 ब्रह्म का ज्ञान

ईशावास्योपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का अत्यंत गहन वर्णन किया गया है। इस उपनिषद् के चौथे से आठवें मंत्रों में ब्रह्म या आत्मा के स्वरूप का वर्णन मिलता है। चौथा मंत्र कहता है कि आत्मा अचल है फिर भी मन से भी तीव्र गति वाला है। देवता भी इसे प्राप्त नहीं कर सके क्योंकि यह उनसे पहले ही आगे निकल गया। यह स्थिर रहते हुए भी दौड़ने वालों को पीछे छोड़ देता है। इसी में प्राण सभी क्रियाओं को धारण करता है। यह मंत्र ब्रह्म की अद्भुत विशेषताओं को व्यक्त करता है जो विरोधाभासी प्रतीत होती हैं किंतु परम सत्य की ओर संकेत करती हैं।

पाँचवाँ मंत्र कहता है कि वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर है और समीप भी है, वह इस सबके अंदर है और इस सबके बाहर भी है। यहाँ ब्रह्म की सर्वव्यापकता और अद्वैत स्वरूप का वर्णन है। ब्रह्म स्थान और काल की सीमाओं से परे है। वह सर्वत्र है इसीलिए वह दूर भी है और निकट भी। वह समस्त जगत में व्याप्त है इसीलिए वह अंदर भी है और बाहर भी। यह वर्णन हमें बताता है कि ब्रह्म को सामान्य बुद्धि से नहीं समझा जा सकता क्योंकि वह हमारी सभी धारणाओं और विभाजनों से परे है। ब्रह्म को जानने के लिए एक विशेष प्रकार की प्रज्ञा और अनुभूति की आवश्यकता है।

छठा और सातवाँ मंत्र ब्रह्मज्ञान के फल का वर्णन करते हैं। जो व्यक्ति समस्त प्राणियों में आत्मा को देखता है और आत्मा में समस्त प्राणियों को देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता। जब साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि सभी प्राणियों में वही आत्मा है जो मुझमें है तो उसके लिए मोह और द्वेष का कोई स्थान नहीं रहता। वह सभी को समान दृष्टि से देखता है। ऐसे ज्ञानी के लिए कोई दुख नहीं है, कोई भ्रम नहीं है। यह ब्रह्मज्ञान का परम फल है। इस ज्ञान से व्यक्ति संसार में रहते हुए भी मुक्त हो जाता है। वह जीवनमुक्त कहलाता है।

आठवाँ मंत्र ब्रह्म के स्वरूप का और विस्तृत वर्णन करता है। यह कहता है कि वह सर्वत्र व्याप्त है, शुक्ल अर्थात् शुद्ध है, अशरीरी है, छिद्ररहित है, स्नायुरहित है, शुद्ध है, पापरहित है। वह कवि है अर्थात् सर्वज्ञ है, मनीषी है अर्थात् बुद्धिमान है, परिभू है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है, स्वयंभू है अर्थात् स्वयं से उत्पन्न है। उसने सब वस्तुओं को यथार्थ रूप से विभाजित किया है। यह वर्णन ब्रह्म को निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में प्रस्तुत करता है। निर्गुण रूप में वह शरीर और गुणों से रहित है और सगुण रूप में वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है।

ब्रह्मज्ञान की इस अवधारणा का महत्व यह है कि यह हमें जीवन की वास्तविकता को समझने में सहायता करती है। जब हम जान लेते हैं कि एक ही सत्ता समस्त जगत् में व्याप्त है तो हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। हम भेदभाव और संकीर्णता से ऊपर उठ जाते हैं। हम सभी प्राणियों में अपने आपको और अपने में सभी प्राणियों को देखने लगते हैं। यही ब्रह्मज्ञान का व्यावहारिक फल है जो न केवल आध्यात्मिक उन्नति बल्कि सामाजिक समरसता के लिए भी आवश्यक है।

1.11 आत्मभाव की अवधारणा

ईशावास्योपनिषद् में आत्मभाव की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है। आत्मभाव का अर्थ है सभी प्राणियों में आत्मा का दर्शन करना और यह अनुभव करना कि जो आत्मा मुझमें है वही सबमें है। यह भाव जब जागृत होता है तब व्यक्ति के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन आता है। वह स्वार्थ से परमार्थ की ओर, संकीर्णता से विशालता की ओर और द्वैत से अद्वैत की ओर बढ़ता है। छठे मंत्र में कहा गया है कि जो सभी भूतों में आत्मा को देखता है और आत्मा में सभी भूतों को देखता है वह फिर किसी से द्वेष नहीं करता। यही आत्मभाव की पराकाष्ठा है।

आत्मभाव का एक पक्ष आत्मज्ञान है अर्थात् यह जानना कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है। सामान्य व्यक्ति अपने आपको शरीर, मन या बुद्धि समझता है। वह सोचता है कि मैं यह शरीर हूँ, मैं अमुक नाम वाला व्यक्ति हूँ, मैं अमुक परिवार और समाज का सदस्य हूँ। किंतु उपनिषद् कहता है कि यह सब तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। तुम्हारा वास्तविक स्वरूप आत्मा है जो शरीर और मन से भिन्न है, जो अजन्मा है, अमर है और नित्य है। जब यह ज्ञान होता है तब व्यक्ति जन्म-मरण के भय से मुक्त हो जाता है। वह जानता है कि शरीर नष्ट होता है किंतु आत्मा अविनाशी है।

आत्मभाव का दूसरा पक्ष है सभी प्राणियों के साथ एकता का अनुभव। जब व्यक्ति जान लेता है कि मेरी आत्मा और दूसरों की आत्मा एक ही है तब वह सबके साथ आत्मीयता का अनुभव करता है। तब परायापन समाप्त हो जाता है। सभी प्राणी अपने लगने लगते हैं। इसीलिए सातवाँ मंत्र कहता है कि ऐसे ज्ञानी के लिए कोई मोह नहीं है कोई शोक नहीं है। मोह और शोक तब होते हैं जब हम किसी को अपना और किसी को पराया मानते हैं। जब यह भेद समाप्त हो जाता है तब न कुछ खोने का भय रहता है न कुछ पाने की लालसा। यही आत्मभाव से प्राप्त होने वाली शांति है।



आत्मभाव की इस अवधारणा का नैतिक और सामाजिक महत्व भी है। जब व्यक्ति सभी प्राणियों में आत्मा देखता है तब वह किसी को कष्ट नहीं दे सकता क्योंकि दूसरे को कष्ट देना स्वयं को कष्ट देना होगा। इसीलिए उपनिषदों ने अहिंसा, करुणा और सेवा पर बल दिया है। ये सभी गुण आत्मभाव से स्वाभाविक रूप से प्रकट होते हैं। जो व्यक्ति सचमुच आत्मभाव से युक्त है वह स्वार्थी नहीं हो सकता, वह क्रूर नहीं हो सकता, वह अन्यायी नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मभाव केवल एक दार्शनिक सिद्धांत नहीं बल्कि जीवन जीने की एक विधि है जो व्यक्ति और समाज दोनों के कल्याण के लिए आवश्यक है।

बोध प्रश्न—सुमेलन कीजिए

स्तंभ अ	स्तंभ ब
1. तत्त्वमसि	(क) ऐतरेय उपनिषद्
2. अहं ब्रह्मास्मि	(ख) छान्दोग्य उपनिषद्
3. प्रज्ञानं ब्रह्म	(ग) माण्डूक्य उपनिषद्
4. अयमात्मा ब्रह्म	(घ) बृहदारण्यक उपनिषद्
स्तंभ अ	स्तंभ ब
1. ऋग्वेद	(क) ईशावास्योपनिषद्
2. सामवेद	(ख) ऐतरेयोपनिषद्
3. यजुर्वेद	(ग) प्रश्नोपनिषद्
4. अथर्ववेद	(घ) छान्दोग्योपनिषद्

1.12 ईशावास्योपनिषद् का दार्शनिक महत्व

ईशावास्योपनिषद् का दार्शनिक महत्व अनेक दृष्टियों से है। सबसे पहले यह उपनिषद् समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। यह कर्म और ज्ञान का समन्वय करता है, विद्या और अविद्या का समन्वय करता है, संभूति और असंभूति का समन्वय करता है। जहाँ अन्य दार्शनिक परंपराएँ किसी एक पक्ष पर बल देती हैं वहाँ यह उपनिषद् दोनों पक्षों के महत्व को स्वीकार करता है और उनके बीच संतुलन स्थापित करता है। यह समन्वयवादी दृष्टिकोण भारतीय दर्शन की विशेषता है और इस उपनिषद् में यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण। कुछ दार्शनिक परंपराएँ संसार को मिथ्या या दुखपूर्ण मानकर उससे पलायन की बात करती हैं। किंतु ईशावास्योपनिषद् कहता है कि संसार में रहते हुए, कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखो। यह जीवन से पलायन नहीं बल्कि जीवन को आध्यात्मिक बनाने का संदेश है। संसार ईश्वर से व्याप्त है इसलिए वह त्याज्य नहीं है। उचित दृष्टिकोण से देखा जाए तो संसार भी ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। यह दृष्टिकोण जीवन को अर्थपूर्ण और गरिमामय बनाता है।

तीसरा महत्वपूर्ण पक्ष है ब्रह्म और जगत के संबंध की व्याख्या। ईशावास्योपनिषद् का पहला मंत्र कहता है कि यह सब ईश्वर से आच्छादित है। इसका अर्थ यह है कि जगत और ब्रह्म पूर्णतः भिन्न नहीं हैं। ब्रह्म जगत में व्याप्त है, जगत ब्रह्म में स्थित है। यह दृष्टिकोण न तो पूर्ण अद्वैत है जो जगत को मिथ्या मानता है और न पूर्ण द्वैत है जो ब्रह्म और जगत को सर्वथा भिन्न मानता है। यह एक संतुलित दृष्टिकोण है जो जगत की सत्ता को भी स्वीकार करता है और ब्रह्म की सर्वव्यापकता को भी।

चौथा पक्ष है आत्मभाव पर बल। इस उपनिषद् में आत्मभाव को मोक्ष का साधन बताया गया है। जो सभी प्राणियों में आत्मा देखता है वह मोह और शोक से मुक्त हो जाता है। यह आत्मभाव केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं बल्कि एक अनुभूति है जो साधना से प्राप्त होती है। इस अनुभूति से जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन आता है। व्यक्ति स्वार्थ से ऊपर उठकर सर्वभूतहित में रत हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था है जो इस जीवन में ही प्राप्त हो सकती है।

पाँचवाँ पक्ष है इस उपनिषद् का प्रभाव। ईशावास्योपनिषद् ने भारतीय दर्शन और संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला है। आचार्य शंकर से लेकर महात्मा गांधी तक अनेक विद्वानों और महापुरुषों ने इस उपनिषद् से प्रेरणा ली है। गांधीजी ने इसके प्रथम मंत्र को अपने जीवन का आदर्श माना और ट्रस्टीशिप के सिद्धांत का आधार इसी मंत्र को बताया। इस प्रकार यह छोटा सा उपनिषद् अपने गहन दार्शनिक विचारों के कारण सदियों से प्रासंगिक बना हुआ है और आगे भी रहेगा।

1.13 सारांश

इस इकाई में हमने उपनिषदों का सामान्य परिचय प्राप्त किया और विशेष रूप से ईशावास्योपनिषद् का विस्तृत अध्ययन किया। उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति से हमने जाना कि यह वह ज्ञान है जो गुरु के समीप बैठकर प्राप्त किया जाता है, जो अज्ञान को नष्ट करता है और जो संसार के बंधनों को शिथिल करता है। उपनिषदों का रचनाकाल लगभग 800 से 500 ईसा पूर्व माना जाता है और ये वैदिक साहित्य का अंतिम और सर्वाधिक दार्शनिक भाग हैं। मुक्तिकोपनिषद् में 108 उपनिषदों की सूची है किंतु प्रमुख उपनिषद् दस से तेरह माने जाते हैं जिन पर आचार्य शंकर ने भाष्य लिखा है।

उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्म और आत्मा का स्वरूप तथा इन दोनों की एकता है। यह एकता विभिन्न महावाक्यों में व्यक्त हुई है जैसे तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म और प्रज्ञानं ब्रह्म। ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता का अंश है और इसमें कुल अठारह मंत्र हैं। यह एकमात्र ऐसा उपनिषद् है जो संहिता भाग में स्थित है। इस उपनिषद् में कर्मनिष्ठा की अवधारणा प्रस्तुत की गई है जो निष्काम कर्म पर बल देती है। यह कहता है कि कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा रखनी चाहिए किंतु यह कर्म आसक्तिरहित होना चाहिए।

विद्या और अविद्या की अवधारणा में उपनिषद् यह संदेश देता है कि न केवल कर्म पर्याप्त है न केवल ज्ञान बल्कि दोनों का समन्वय आवश्यक है। अविद्या से मृत्यु को पार किया जाता है और विद्या से अमृतत्व प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञान के संदर्भ में उपनिषद् ब्रह्म को सर्वव्यापक, निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में वर्णित

करता है। वह चलता भी है और नहीं भी चलता, वह दूर भी है और समीप भी, वह सबके अंदर भी है और बाहर भी। आत्मभाव की अवधारणा में कहा गया है कि जो सभी प्राणियों में आत्मा देखता है और आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है वह किसी से द्वेष नहीं करता और मोह-शोक से मुक्त हो जाता है। ईशावास्योपनिषद् का दार्शनिक महत्व इसके समन्वयवादी दृष्टिकोण, जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टि और आत्मभाव पर बल देने में है। यह उपनिषद् संसार से पलायन नहीं सिखाता बल्कि संसार में रहते हुए आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा देता है। इसका प्रथम मंत्र कहता है कि समस्त जगत ईश्वर से आच्छादित है इसलिए त्याग के साथ भोग करो। यह त्याग और भोग का अद्भुत समन्वय है जो व्यावहारिक जीवन के लिए अत्यंत प्रासंगिक है। इस प्रकार ईशावास्योपनिषद् अपने लघु आकार के बावजूद भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसका अध्ययन प्रत्येक जिज्ञासु के लिए लाभदायक है।

1.14 बोध प्रश्न— दीर्घ उत्तरीय

1. उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ की विस्तृत व्याख्या कीजिए। उपनिषदों के विभिन्न नामों का भी उल्लेख कीजिए।
2. उपनिषदों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर प्रकाश डालिए। वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान स्पष्ट कीजिए।
3. ईशावास्योपनिषद् में कर्मनिष्ठा की अवधारणा का विस्तृत विवेचन कीजिए। इसकी व्यावहारिक प्रासंगिकता पर भी प्रकाश डालिए।
4. ईशावास्योपनिषद् में विद्या और अविद्या की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए। इस संदर्भ में आचार्य शंकर के विचारों का भी उल्लेख कीजिए।
5. ईशावास्योपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किस प्रकार किया गया है? विस्तारपूर्वक समझाइए।
6. आत्मभाव की अवधारणा क्या है? ईशावास्योपनिषद् के संदर्भ में इसकी व्याख्या कीजिए और इसका नैतिक महत्व बताइए।
7. ईशावास्योपनिषद् के दार्शनिक महत्व पर एक निबंध लिखिए।
8. उपनिषदों के प्रमुख विषयों का वर्णन कीजिए। इनमें से कौन से विषय ईशावास्योपनिषद् में प्रमुखता से आए हैं?
9. प्रस्थानत्रयी क्या है? उपनिषदों का प्रस्थानत्रयी में क्या स्थान है? विस्तारपूर्वक समझाइए।
10. ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मंत्र की व्याख्या कीजिए और बताइए कि यह समग्र उपनिषद् के मूल संदेश को किस प्रकार व्यक्त करता है।

बोध प्रश्न— लघु उत्तरीय

1. उपनिषद् शब्द के तीन अर्थ क्या हैं?
2. प्रमुख दस उपनिषदों के नाम लिखिए?

3. ईशावास्योपनिषद् को संहितोपनिषद् क्यों कहा जाता है?
4. निष्काम कर्म का क्या अर्थ है?
5. चार महावाक्यों का नाम और अर्थ लिखिए?
6. वेदांत शब्द का क्या अर्थ है?
7. ब्रह्म के निर्गुण और सगुण स्वरूप में क्या अंतर है?
8. आत्मभाव से क्या तात्पर्य है?
9. विद्या और अविद्या का समन्वय क्यों आवश्यक है?
10. ईशावास्योपनिषद् में कितने मंत्र हैं और यह किस वेद से संबंधित है?
11. श्रुति और स्मृति में क्या अंतर है?
12. जीवनमुक्त किसे कहते हैं?
13. ईशावास्योपनिषद् का प्रथम मंत्र क्या संदेश देता है?
14. उपनिषदों को ब्रह्मविद्या क्यों कहा जाता है?
15. मोक्ष का क्या अर्थ है उपनिषदों के अनुसार?

बोध प्रश्न— बहु विकल्पीय

1. उपनिषद् शब्द में षद् धातु का अर्थ है?
(अ) जाना (ब) बैठना (स) देखना (द) सुनना
2. वेदांत का शाब्दिक अर्थ है ?
(अ) वेदों का आदि (ब) वेदों का अंत (स) वेदों का मध्य (द) वेदों का सार
3. कठोपनिषद् में किसका संवाद है?
(अ) याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी (ब) यम और नचिकेता (स) उद्दालक और श्वेतकेतु (द) प्रजापति और इंद्र
4. छान्दोग्योपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
(अ) ऋग्वेद (ब) यजुर्वेद (स) सामवेद (द) अथर्ववेद
5. प्रज्ञानं ब्रह्म महावाक्य किस उपनिषद् का है?
(अ) छान्दोग्य (ब) बृहदारण्यक (स) ऐतरेय (द) माण्डूक्य
6. ईशावास्योपनिषद् के अनुसार मनुष्य को कितने वर्ष जीने की इच्छा रखनी चाहिए ?
(अ) पचास (ब) साठ (स) सत्तर (द) सौ

7. सच्चिदानंद का अर्थ है?
(अ) सत्य, चिंतन, आनंद (ब) आनंद (स) सत्त्व, चित्त, आनंद (द) सत्ता, चेतना, आनंद
8. उपनिषदों का मुख्य विषय है?
(अ) कर्मकांड (ब) देवताओं की स्तुति (स) ब्रह्म और आत्मा का ज्ञान (द) यज्ञ विधि
9. आचार्य शंकर ने कितने उपनिषदों पर भाष्य लिखा?
(अ) पाँच (ब) आठ (स) दस (द) बारह
10. तत्त्वमसि का अर्थ है?
(अ) वह सत्य है (ब) तू वही है (स) यह ब्रह्म है (द) मैं वही हूँ
11. उपनिषदों को किस प्रकार का साहित्य माना जाता है?
(अ) स्मृति (ब) श्रुति (स) पुराण (द) इतिहास
12. निर्गुण ब्रह्म का क्या अर्थ है?
(अ) गुणों से युक्त (ब) गुणों से रहित (स) तीन गुणों वाला (द) अनेक गुणों वाला
13. वैदिक साहित्य का कौन सा भाग कर्मकांड से संबंधित है?
(अ) संहिता (ब) ब्राह्मण (स) आरण्यक (द) उपनिषद
14. माण्डूक्योपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
(अ) ऋग्वेद (ब) यजुर्वेद (स) सामवेद (द) अथर्ववेद
15. ईशावास्योपनिषद् में त्याग और भोग का कौन सा संदेश है?
(अ) केवल त्याग करो (ब) केवल भोग करो (स) त्याग के साथ भोग करो (द) दोनों का त्याग करो
16. जीवनमुक्त वह है जो?
(अ) मृत्यु के बाद मुक्त होता है (ब) जीवित रहते हुए मुक्त होता है (स) संन्यास लेकर मुक्त होता है (द) तपस्या से मुक्त होता है

17. अपौरुषेय का अर्थ है?
(अ) पुरुषों द्वारा रचित (ब) किसी व्यक्ति द्वारा रचित नहीं (स) देवताओं द्वारा रचित (द) ऋषियों द्वारा रचित
18. प्रस्थानत्रयी में कौन सा ग्रंथ श्रुति प्रस्थान है?
(अ) भगवद्गीता (ब) ब्रह्मसूत्र (स) उपनिषद् (द) महाभारत
19. ईशावास्योपनिषद् के अनुसार जो आत्मा का हनन करते हैं वे कहाँ जाते हैं?
(अ) स्वर्ग (ब) अंधकारमय लोक (स) ब्रह्मलोक (द) चंद्रलोक
20. उपनिषदों में मोक्ष का साधन क्या बताया गया है?
(अ) केवल कर्म (ब) केवल भक्ति (स) ज्ञान (द) केवल तप

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. उपनिषद् भाष्य — आचार्य शंकराचार्य
2. दस उपनिषद् — गीताप्रेस, गोरखपुर
3. उपनिषदों का परिचय — डॉ. राधाकृष्णन
4. भारतीय दर्शन — डॉ. राधाकृष्णन
5. उपनिषद् दर्शन — आचार्य बलदेव उपाध्याय
6. ईशावास्योपनिषद् — स्वामी विवेकानंद
7. वैदिक साहित्य का इतिहास — डॉ. भोलाशंकर व्यास

इकाई संरचना

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 आत्म (स्व) की अवधारणा

2.2.1 आत्मा का स्वरूप

2.2.2 भारतीय दर्शन में आत्मा की विभिन्न व्याख्याएं

2.2.3 केनोपनिषद् में आत्मा का वर्णन

2.3 मन की अवधारणा

2.3.1 मन का स्वरूप और कार्य

2.3.2 मन और आत्मा का संबंध

2.3.3 मन की वृत्तियां और उनका नियंत्रण

2.4 आत्मा और मन का पारस्परिक संबंध

2.4.1 चेतना का स्रोत

2.4.2 ज्ञान प्राप्ति में आत्मा और मन की भूमिका

2.5 सत्य की सहज अनुभूति

2.5.1 सत्य का स्वरूप

2.5.2 उपनिषदों में सत्य की अवधारणा

2.5.3 सत्य की अनुभूति के साधन

2.5.4 आत्मसाक्षात्कार और सत्य

2.6 यक्षोपाख्यान का परिचय

2.6.1 यक्षोपाख्यान की कथा

2.6.2 यक्ष-युधिष्ठिर संवाद

2.7 यक्षोपाख्यान के नैतिक उपदेश

2.7.1 धर्म और नीति संबंधी शिक्षाएं

2.7.2 जीवन मूल्यों की शिक्षा

2.7.3 आत्म-संयम और धैर्य का महत्व

2.8 यक्ष प्रश्नों का दार्शनिक विश्लेषण

2.8.1 प्रमुख यक्ष प्रश्न और उनके उत्तर

2.8.2 यक्ष प्रश्नों की आधुनिक प्रासंगिकता

2.9 सारांश

2.10 शब्दावली

2.11 बोध प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों को भारतीय दर्शन की मूलभूत अवधारणाओं से परिचित कराना है। विद्यार्थी आत्मा और मन के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक संबंध को गहराई से समझ सकेंगे। इसके साथ ही उपनिषदों में वर्णित सत्य की अवधारणा और उसकी अनुभूति के विभिन्न साधनों का ज्ञान प्राप्त करेंगे। महाभारत के यक्षोपाख्यान प्रसंग में निहित नैतिक शिक्षाओं और जीवन मूल्यों को आत्मसात कर सकेंगे। यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में वर्णित दार्शनिक प्रश्नों और उनके उत्तरों का विश्लेषण करने की क्षमता विकसित होगी। इन प्राचीन ज्ञान परंपराओं की आधुनिक जीवन में प्रासंगिकता को समझने में सहायता मिलेगी।

2.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन परंपरा विश्व की प्राचीनतम और समृद्धतम दार्शनिक परंपराओं में से एक है। इस परंपरा का मूल उद्देश्य मानव जीवन के गूढ़तम प्रश्नों का उत्तर खोजना रहा है। जैसे कि मैं कौन हूँ, इस संसार का स्वरूप क्या है, जीवन का उद्देश्य क्या है और मृत्यु के पश्चात् क्या होता है जैसे प्रश्न सदैव मानव मन को उद्वेलित करते रहे हैं। भारतीय ऋषियों और मनीषियों ने इन प्रश्नों पर गहन चिंतन किया और अपने अनुभवों को वेदों, उपनिषदों तथा अन्य दार्शनिक ग्रंथों में संकलित किया।

उपनिषद् भारतीय दर्शन के मूल स्रोत हैं। ये ग्रंथ वैदिक साहित्य का अंतिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग हैं, इसीलिए इन्हें वेदांत भी कहा जाता है। उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति उप, नि और सद तीन शब्दों से हुई है जिसका अर्थ है गुरु के समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना। इन ग्रंथों में आत्मा, ब्रह्म, जगत और मोक्ष जैसे गूढ़ विषयों पर गहन विवेचना की गई है। केनोपनिषद् भी इन्हीं प्रमुख उपनिषदों में से एक है जो सामवेद से संबंधित है।

इस इकाई में हम केनोपनिषद् के संदर्भ में आत्मा और मन की अवधारणा का विस्तृत अध्ययन करेंगे। साथ ही सत्य की सहज अनुभूति के स्वरूप और साधनों पर भी विचार करेंगे। इसके अतिरिक्त महाभारत के वनपर्व में वर्णित यक्षोपाख्यान जिसे यक्ष-युधिष्ठिर संवाद भी कहते हैं उसके नैतिक उपदेशों का भी गहन अध्ययन करेंगे। यक्षोपाख्यान भारतीय साहित्य के सर्वाधिक प्रसिद्ध दार्शनिक संवादों में से एक है जिसमें जीवन, मृत्यु, धर्म और नीति से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं।

2.2 आत्म (स्व) की अवधारणा

2.2.1 आत्मा का स्वरूप :

आत्मा भारतीय दर्शन की सबसे मूलभूत और महत्वपूर्ण अवधारणा है। संस्कृत में आत्मा शब्द का प्रयोग स्व या सेल्फ के अर्थ में किया जाता है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में आत्मा को शरीर, मन और इंद्रियों से भिन्न एक चैतन्य तत्व माना गया है। यह वह तत्व है जो शरीर में निवास करता है परंतु शरीर से पृथक है। जैसे एक घर में रहने वाला व्यक्ति घर से भिन्न होता है उसी प्रकार आत्मा शरीर रूपी घर में निवास करते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न है।

उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का अत्यंत सुंदर वर्णन मिलता है। आत्मा को सत्, चित् और आनंद स्वरूप कहा गया है। सत् का अर्थ है शाश्वत अस्तित्व जो कभी नष्ट नहीं होता। चित् का अर्थ है चेतना या ज्ञान जो आत्मा का मूल स्वभाव है। आनंद का अर्थ है परम सुख जो आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। इस प्रकार आत्मा सच्चिदानंद स्वरूप है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने आत्मा के विषय में कहा है कि यह न कभी जन्मती है न कभी मरती है। यह नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होती।

आत्मा के कुछ प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं। आत्मा नित्य है अर्थात् इसका कभी विनाश नहीं होता। यह अविनाशी है क्योंकि इसे कोई शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती। आत्मा अजन्मा है अर्थात् इसका जन्म नहीं होता। यह सर्वव्यापी है क्योंकि यह समस्त प्राणियों में विद्यमान है। आत्मा अचल और स्थिर है यद्यपि यह विभिन्न शरीरों में गमन करती प्रतीत होती है। यह सनातन है जो काल की सीमाओं से परे है। इस प्रकार आत्मा के ये गुण इसे भौतिक जगत की सभी वस्तुओं से पृथक और विशिष्ट बनाते हैं।

2.2.2 भारतीय दर्शन में आत्मा की विभिन्न व्याख्याएं :

भारतीय दर्शन में आत्मा की अवधारणा को विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्यायित किया है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं। आइए इन विभिन्न व्याख्याओं को समझें।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा को स्वभावतः अचेतन माना गया है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा में चेतना का संचार तभी होता है जब आत्मा का संपर्क मन, शरीर और इंद्रियों से होता है। इस प्रकार चेतना को आत्मा का आगंतुक गुण कहा गया है न कि स्वाभाविक गुण। इस दर्शन में आत्मा को ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता माना गया है। मोक्षावस्था में आत्मा चैतन्य गुण से रहित हो जाती है जो एक विशिष्ट मत है।

सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष कहा गया है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा स्वभावतः चैतन्य स्वरूप है। यह शुद्ध चेतना है जो प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। सांख्य के अनुसार संसार में अनंत पुरुष या आत्माएं हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं। आत्मा पर अविद्या का आवरण पड़ा हुआ है जिसके कारण यह बंधन में पड़ी हुई प्रतीत होती है। जब आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो वह मुक्त हो जाती है।



योग दर्शन भी सांख्य की भांति आत्मा को पुरुष मानता है परंतु इसमें ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार किया गया है। योग दर्शन के अनुसार चित्त वृत्तियों के निरोध से आत्मा का साक्षात्कार होता है। जब मन की सभी वृत्तियां शांत हो जाती हैं तो आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। यही कैवल्य या मोक्ष की अवस्था है।

वेदांत दर्शन में आत्मा की सबसे गहन व्याख्या मिलती है। अद्वैत वेदांत के प्रवर्तक शंकराचार्य के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। जीवात्मा और परमात्मा में कोई वास्तविक भेद नहीं है। अज्ञान या माया के कारण आत्मा अपने को ब्रह्म से भिन्न समझती है। जब यह अज्ञान दूर हो जाता है तो आत्मा को यह बोध होता है कि वह ब्रह्म ही है। अहं ब्रह्मास्मि अर्थात् मैं ब्रह्म हूं यह उपनिषदों का महावाक्य इसी सत्य को व्यक्त करता है।

जैन दर्शन में आत्मा को जीव कहा गया है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा में अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत आनंद विद्यमान है। कर्मों के बंधन के कारण आत्मा के ये गुण आवृत हो जाते हैं। जब कर्मों का क्षय हो जाता है तो आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है जिसे कैवल्य कहते हैं।

2.2.3 केनोपनिषद् में आत्मा का वर्णन:

केनोपनिषद् सामवेद की जैमिनीय शाखा से संबंधित एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपनिषद् है। केन शब्द का अर्थ है किसके द्वारा या किससे प्रेरित होकर। इस उपनिषद् का आरंभ इसी प्रश्न से होता है कि मन किसके द्वारा प्रेरित होकर अपने लक्ष्य की ओर जाता है, प्राण किसकी प्रेरणा से कार्य करता है, वाणी किसके द्वारा प्रेरित होकर बोलती है तथा कौन सा देव नेत्रों और कानों को संचालित करता है। इन प्रश्नों के उत्तर में इस उपनिषद् में आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

केनोपनिषद् के अनुसार आत्मा वह है जो सभी इंद्रियों और मन का संचालक है। यह वह चेतन तत्त्व है जिसके कारण कान सुनते हैं, आंखें देखती हैं, मन विचार करता है और प्राण संचरित होते हैं। इस उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा श्रोत्र का श्रोत्र है अर्थात् कान का कान है। यह मनसो मनरू है अर्थात् मन कामन है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कान ध्वनि को सुनता है उसी प्रकार एक और तत्त्व है जो कान की क्रिया को जानता है। वह तत्त्व आत्मा है।

इस उपनिषद् में आत्मा के विषय में एक अत्यंत गहन बात कही गई है। कहा गया है कि आत्मा को वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता, मन से सोचा नहीं जा सकता और आंखों से देखा नहीं जा सकता। यह इंद्रियों और मन की पहुंच से परे है। जो यह समझता है कि मैं आत्मा को जानता हूं वह वास्तव में नहीं जानता और जो समझता है कि मैं नहीं जानता वह जानता है। अज्ञानियों के लिए आत्मा ज्ञात है और ज्ञानियों के लिए अज्ञात। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा साधारण ज्ञान का विषय नहीं है। इसे केवल आत्मानुभूति या साक्षात्कार से ही जाना जा सकता है।

केनोपनिषद् में यह भी स्पष्ट किया गया है कि आत्मा को किसी अन्य वस्तु की भांति जानने का विषय नहीं बनाया जा सकता क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञाता है। ज्ञाता को ज्ञान का विषय कैसे बनाया जा सकता है। जैसे आंख सब कुछ देखती है परंतु स्वयं को नहीं देख सकती उसी प्रकार आत्मा सब कुछ जानती है



परंतु स्वयं ज्ञान का विषय नहीं बन सकती। यही आत्मा की विशेषता है जो इसे अन्य सभी पदार्थों से भिन्न बनाती है।

2.3 मन की अवधारणा

2.3.1 मन का स्वरूप और कार्य:

भारतीय दर्शन में मन को एक अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व माना गया है। मन वह उपकरण है जिसके माध्यम से आत्मा संसार का अनुभव करती है। संस्कृत में मन के लिए मनस्, चित्त, अंतःकरण आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। वेदांत दर्शन के अनुसार अंतःकरण की चार वृत्तियां हैं जिन्हें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार कहते हैं। ये चारों मिलकर मानसिक क्रियाओं का संपादन करते हैं।

मन का प्रमुख कार्य संकल्प और विकल्प है अर्थात् विभिन्न विचारों का निर्माण करना। बुद्धि का कार्य निश्चय करना है अर्थात् किसी विषय में निर्णय लेना। चित्त का कार्य स्मरण है अर्थात् पूर्व अनुभवों को याद रखना। अहंकार का कार्य अभिमान है अर्थात् मैं और मेरा का भाव रखना। ये चारों वृत्तियां मिलकर हमारे समस्त मानसिक व्यापारों का संचालन करती हैं।

न्याय दर्शन में मन को एक सूक्ष्म और अणु परिमाण वाला द्रव्य माना गया है। इस दर्शन के अनुसार मन अणु के समान अत्यंत छोटा है और एक समय में केवल एक ही विषय का ज्ञान करा सकता है। इसीलिए हम एक साथ दो बातों को ध्यान से नहीं सुन सकते या दो कार्यों को एक साथ ध्यानपूर्वक नहीं कर सकते। मन इंद्रियों और आत्मा के बीच एक सेतु का कार्य करता है। इंद्रियां बाह्य विषयों का ग्रहण करती हैं और मन उन्हें आत्मा तक पहुंचाता है।

योग दर्शन में मन या चित्त को विशेष महत्व दिया गया है। पतंजलि के योगसूत्र का प्रथम सूत्र ही है योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। इस दर्शन के अनुसार चित्त में पांच प्रकार की वृत्तियां होती हैं जिन्हें प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति कहते हैं। जब इन सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है तो चित्त निर्मल हो जाता है और आत्मा का साक्षात्कार होता है।

2.3.2 मन और आत्मा का संबंध:

मन और आत्मा का संबंध भारतीय दर्शन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है। सामान्यतः लोग मन और आत्मा में भेद नहीं कर पाते और मन की क्रियाओं को ही आत्मा की क्रियाएं समझ लेते हैं। परंतु भारतीय दर्शन में इन दोनों में स्पष्ट भेद किया गया है।

आत्मा चेतन तत्व है जबकि मन जड़ तत्व है। यह भेद अत्यंत महत्वपूर्ण है। आत्मा स्वयं प्रकाशित है अर्थात् इसे किसी अन्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। मन आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है जैसे चंद्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है। आत्मा द्रष्टा है और मन दृश्य है। आत्मा साक्षी है जो मन की सभी क्रियाओं को देखता है।

मन आत्मा और बाह्य जगत के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है। इंद्रियां बाह्य विषयों का ग्रहण करती हैं और मन उन विषयों को आत्मा के समक्ष प्रस्तुत करता है। जैसे कोई मंत्री राजा को प्रजा की बात



पहुंचाता है उसी प्रकार मन आत्मा को बाह्य जगत का ज्ञान कराता है। परंतु मन स्वयं अचेतन है इसलिए यह स्वयं कुछ नहीं जानता। जानने वाला तो केवल आत्मा है।

इस संबंध को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिंब दिखाई देता है उसी प्रकार आत्मा का प्रतिबिंब मन में पड़ता है। इस प्रतिबिंब के कारण मन भी चेतन प्रतीत होने लगता है। जैसे लोहे की छड़ को अग्नि में तपाने से वह भी लाल और गर्म हो जाती है उसी प्रकार आत्मा के संसर्ग से मन भी चेतन प्रतीत होता है। परंतु यह चेतना मन की अपनी नहीं है बल्कि आत्मा से प्राप्त है।

2.3.3 मन की वृत्तियां और उनका नियंत्रण:

मन स्वभाव से चंचल है। भगवद्गीता में अर्जुन ने कहा है कि मन अत्यंत चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, बलवान और दृढ़ है। इसे वश में करना वायु को वश में करने के समान कठिन है। मन की इसी चंचलता के कारण मनुष्य अनेक प्रकार के दुखों और समस्याओं से ग्रस्त रहता है।

मन की विभिन्न वृत्तियां हैं जो इसे निरंतर विक्षुब्ध रखती हैं। काम अर्थात् इच्छा, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये छह विकार मन को अशांत रखते हैं। इन्हें षड्विपु कहा जाता है। जब तक ये विकार मन में विद्यमान रहते हैं तब तक मन शांत नहीं हो सकता और आत्मा का साक्षात्कार संभव नहीं है।

मन को नियंत्रित करने के अनेक उपाय भारतीय दर्शन में बताए गए हैं। पतंजलि ने योगसूत्र में अभ्यास और वैराग्य को मन के नियंत्रण का प्रमुख साधन बताया है। अभ्यास का अर्थ है निरंतर प्रयास करते रहना और वैराग्य का अर्थ है विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग करना। जब साधक निरंतर अभ्यास करता है और साथ ही विषयों से वैराग्य रखता है तो धीरे-धीरे मन नियंत्रित होने लगता है।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भी मन को नियंत्रित करने के उपाय बताए हैं। उन्होंने कहा है कि अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ध्यान, जप, प्राणायाम, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान भी मन को शांत करने के प्रभावी साधन हैं। जब मन शांत और एकाग्र हो जाता है तो वह आत्मा के स्वरूप को प्रतिबिंबित करने में सक्षम हो जाता है जैसे शांत जल में सूर्य का प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई देता है।

बोध प्रश्न—बहुविकल्पीय प्रश्न

1. आत्मा का स्वभाव है
(क) जड़ता (ख) चौतन्य (ग) अज्ञान (घ) माया
2. अंतःकरण की कितनी वृत्तियां हैं?
(क) दो (ख) तीन (ग) चार (घ) पांच
3. सत्य की अनुभूति के साधनों में सम्मिलित नहीं है
(क) विवेक (ख) वैराग्य (ग) अहंकार (घ) मुमुक्षुत्व
4. यक्ष ने युधिष्ठिर से कितने प्रश्न पूछे?
(क) दस (ख) पचास (ग) सौ (घ) अनेक



5. युधिष्ठिर ने किस भाई को जीवित करने का चुनाव किया?
(क) भीम (ख) अर्जुन (ग) नकुल (घ) सहदेव
6. निम्नलिखित में से कौन आत्मा का गुण नहीं है?
(क) नित्यता (ख) अविनाशी (ग) परिवर्तनशीलता (घ) अजन्मा
7. श्रवण, मनन और निदिध्यासन किसके साधन हैं?
(क) धन प्राप्ति (ख) सत्य की अनुभूति (ग) यश प्राप्ति (घ) सुख प्राप्ति
8. अहं ब्रह्मास्मि महावाक्य का अर्थ है
(क) मैं शरीर हूँ (ख) मैं मन हूँ (ग) मैं ब्रह्म हूँ (घ) मैं माया हूँ

2.4 आत्मा और मन का पारस्परिक संबंध

2.4.1 चेतना का स्रोत:

भारतीय दर्शन में चेतना के स्रोत पर गहन विचार किया गया है। चेतना वह शक्ति है जिसके कारण हम जानते हैं, अनुभव करते हैं और कार्य करते हैं। प्रश्न यह है कि यह चेतना कहां से आती है। क्या यह मन से उत्पन्न होती है या आत्मा से या शरीर से।

भौतिकवादी दर्शन जैसे चार्वाक के अनुसार चेतना शरीर की ही एक उत्पत्ति है। जैसे कुछ द्रव्यों के मिश्रण से मादकता उत्पन्न होती है उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार तत्वों के विशेष संयोग से शरीर में चेतना उत्पन्न होती है। परंतु अधिकांश भारतीय दर्शन इस मत से सहमत नहीं हैं।

वेदांत और अन्य अध्यात्मवादी दर्शनों के अनुसार चेतना का मूल स्रोत आत्मा है। आत्मा स्वयं चैतन्य स्वरूप है। चेतना आत्मा का स्वभाव है न कि कोई बाहरी गुण। जैसे प्रकाश सूर्य का स्वभाव है उसी प्रकार चेतना आत्मा का स्वभाव है। शरीर और मन में जो चेतना दिखाई देती है वह वास्तव में आत्मा की चेतना का प्रतिबिंब है।

केनोपनिषद् में इस विषय पर अत्यंत सुंदर विवेचना है। इस उपनिषद् में कहा गया है कि वह आत्मा ही है जिसके द्वारा मन सोचता है, प्राण चलते हैं, वाणी बोलती है और इंद्रियां अपना-अपना कार्य करती हैं। आत्मा इन सबका प्रेरक है। जैसे विद्युत के बिना यंत्र कार्य नहीं कर सकते उसी प्रकार आत्मा के बिना शरीर और मन निष्क्रिय हैं।

2.4.2 ज्ञान प्राप्ति में आत्मा और मन की भूमिका

ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में आत्मा और मन दोनों की महत्वपूर्ण भूमिका है। ज्ञान प्राप्ति के लिए दोनों का सहयोग आवश्यक है यद्यपि दोनों की भूमिका भिन्न-भिन्न है।

मन ज्ञान प्राप्ति का साधन है। इंद्रियां बाह्य विषयों से संपर्क करती हैं और मन इन इंद्रियों का संचालन करता है। जब मन किसी विषय की ओर उन्मुख होता है तभी उस विषय का ज्ञान होता है। यदि मन अन्यत्र व्यस्त हो तो इंद्रियां विषय के संपर्क में रहते हुए भी ज्ञान नहीं होता। जैसे जब हम किसी गहन

विचार में लीन होते हैं तो आंखें खुली रहने पर भी सामने की वस्तु नहीं दिखती। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान प्राप्ति में मन की भूमिका अनिवार्य है।

परंतु मन स्वयं जड़ है इसलिए वह स्वयं नहीं जानता। जानने वाला तो केवल आत्मा है। आत्मा ज्ञाता है और मन तथा इंद्रियां उसके उपकरण हैं। जैसे एक कलाकार तूलिका और रंगों की सहायता से चित्र बनाता है परंतु चित्र बनाने वाला कलाकार है न कि तूलिका उसी प्रकार मन और इंद्रियों की सहायता से ज्ञान प्राप्त होता है परंतु जानने वाला आत्मा है।

इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति में आत्मा और मन दोनों आवश्यक हैं। आत्मा के बिना ज्ञान का कोई ज्ञाता नहीं और मन के बिना ज्ञान प्राप्ति का कोई साधन नहीं। दोनों के सहयोग से ही ज्ञान संभव है। परंतु अंततः सभी ज्ञान आत्मा में ही स्थित होता है क्योंकि आत्मा ही एकमात्र चेतन तत्त्व है।

बोध प्रश्न

1. केनोपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
(क) ऋग्वेद (ख) यजुर्वेद (ग) सामवेद (घ) अथर्ववेद
2. आत्मा के स्वरूप को किस शब्द से व्यक्त किया जाता है?
(क) सच्चिदानंद (ख) अविद्या (ग) माया (घ) प्रकृति
3. अंतःकरण की कितनी वृत्तियां हैं?
(क) दो (ख) तीन (ग) चार (घ) पांच
4. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः यह सूत्र किसका है?
(क) शंकराचार्य (ख) पतंजलि (ग) कपिल (घ) गौतम
5. सांख्य दर्शन में आत्मा को क्या कहा गया है?
(क) जीव (ख) पुरुष (ग) ब्रह्म (घ) चित्त
6. मन को नियंत्रित करने के दो प्रमुख साधन कौन से हैं?
(क) काम और क्रोध (ख) अभ्यास और वैराग्य (ग) धन और यश (घ) बल और विद्या
7. केन शब्द का अर्थ क्या है?
(क) क्या (ख) कैसे (ग) किसके द्वारा (घ) कब

2.5 सत्य की सहज अनुभूति

2.5.1 सत्य का स्वरूप:

सत्य भारतीय दर्शन की एक मूलभूत अवधारणा है। संस्कृत में सत्य शब्द सत् धातु से बना है जिसका अर्थ है होना या विद्यमान रहना। इस प्रकार सत्य वह है जो वास्तव में है, जो यथार्थ है। भारतीय दर्शन में सत्य को विभिन्न स्तरों पर समझा गया है।

व्यावहारिक स्तर पर सत्य का अर्थ है यथार्थ वचन अर्थात् जो बात जैसी है उसे वैसा ही कहना। इसके विपरीत असत्य वह है जो वास्तविकता के विपरीत कहा जाए। मनुस्मृति में कहा गया है कि सत्य बोलना चाहिए और प्रिय बोलना चाहिए। परंतु अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए और प्रिय असत्य भी नहीं बोलना चाहिए। यह सनातन धर्म है।

दार्शनिक स्तर पर सत्य का अर्थ अधिक गहन है। यहां सत्य का अर्थ है वह जो तीनों कालों में एक सा रहे। जो भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा वही परम सत्य है। इस दृष्टि से केवल ब्रह्म या आत्मा ही परम सत्य है क्योंकि यही एक ऐसा तत्व है जो शाश्वत है। संसार की सभी वस्तुएं परिवर्तनशील हैं इसलिए वे परम सत्य नहीं हैं। शंकराचार्य ने कहा है ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है और जगत मिथ्या है।

उपनिषदों में सत्य को परम तत्व के रूप में वर्णित किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनंत है। इस प्रकार सत्य ब्रह्म का ही दूसरा नाम है। मुंडक उपनिषद में कहा गया है सत्यमेव जयते नानृतम् अर्थात् सत्य की ही विजय होती है असत्य की नहीं। यह वाक्य भारत के राष्ट्रीय प्रतीक में अंकित है।

2.5.2 उपनिषदों में सत्य की अवधारणा

उपनिषद सत्य के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के विषय में अत्यंत गहन ज्ञान प्रदान करते हैं। इन ग्रंथों में सत्य को केवल एक नैतिक मूल्य के रूप में नहीं बल्कि परम तत्व के रूप में वर्णित किया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद में सत्य के स्वरूप पर गहन विचार हुआ है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि आत्मा ही एकमात्र सत्य है जिसे जानना चाहिए। जब आत्मा को जान लिया जाता है तो सब कुछ जान लिया जाता है। जैसे एक मिट्टी के पिंड को जानने से मिट्टी से बनी सभी वस्तुएं जान ली जाती हैं उसी प्रकार आत्मा को जानने से सब कुछ जान लिया जाता है।

छांदोग्य उपनिषद में श्वेतकेतु और उद्दालक के संवाद में तत्त्वमसि अर्थात् तू वह है यह महावाक्य आया है। इस महावाक्य का अर्थ है कि जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। यही परम सत्य है जिसे जानने से मनुष्य मुक्त हो जाता है। उद्दालक ने श्वेतकेतु को विभिन्न उदाहरणों से समझाया कि जिस प्रकार नदियां समुद्र में मिलकर अपना पृथक अस्तित्व खो देती हैं उसी प्रकार जीवात्मा ब्रह्म में विलीन होकर अपना पृथक अस्तित्व खो देती है।

ईशावास्य उपनिषद में कहा गया है कि जो सत्य को जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। सत्य का मुख स्वर्ण पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन् उस आवरण को हटाओ जिससे मैं सत्य का दर्शन कर सकूँ। यह प्रार्थना सत्य के साक्षात्कार की तीव्र आकांक्षा को व्यक्त करती है।

केनोपनिषद में सत्य को एक विशेष रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस उपनिषद में कहा गया है कि सत्य अर्थात् ब्रह्म वाणी, मन और इंद्रियों की पहुंच से परे है। जो इसे जानने का दावा करता है वह वास्तव में नहीं जानता। यह एक विरोधाभासी कथन प्रतीत होता है परंतु इसका गूढ़ अर्थ यह है कि सत्य साधारण ज्ञान का विषय नहीं है। इसे केवल आत्मानुभूति से ही जाना जा सकता है।

2.5.3 सत्य की अनुभूति के साधन

सत्य की अनुभूति या आत्मसाक्षात्कार भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न साधन बताए गए हैं। इन साधनों को साधन चतुष्टय या साधना के चार उपाय कहा जाता है।

प्रथम साधन है विवेक अर्थात् नित्य और अनित्य का भेद जानना। साधक को यह समझना चाहिए कि संसार की सभी वस्तुएं अनित्य हैं और केवल आत्मा या ब्रह्म ही नित्य है। इस विवेक से साधक का मन अनित्य वस्तुओं से हटकर नित्य तत्व की ओर लगने लगता है। विवेक के बिना साधना संभव नहीं है क्योंकि तभी साधक को पता चलता है कि क्या प्राप्त करने योग्य है और क्या त्यागने योग्य है।

द्वितीय साधन है वैराग्य अर्थात् विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग। जब साधक को विवेक हो जाता है कि संसार की वस्तुएं अनित्य हैं तो स्वाभाविक रूप से उनके प्रति उसकी आसक्ति कम होने लगती है। वैराग्य का अर्थ संसार से भागना नहीं है बल्कि संसार में रहते हुए उसके प्रति आसक्ति न रखना है। जैसे कमल का फूल जल में रहते हुए भी जल से अलिप्त रहता है उसी प्रकार साधक को संसार में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहना चाहिए।

तृतीय साधन है षट्संपत्ति अर्थात् छह गुणों का संग्रह। ये छह गुण हैं शम अर्थात् मन का निग्रह, दम अर्थात् इंद्रियों का निग्रह, उपरति अर्थात् बाह्य विषयों से निवृत्ति, तितिक्षा अर्थात् सहनशीलता, श्रद्धा अर्थात् गुरु और शास्त्र में विश्वास, तथा समाधान अर्थात् चित्त की एकाग्रता। इन छह गुणों के बिना साधना में सफलता नहीं मिलती।

चतुर्थ साधन है मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्ष की तीव्र इच्छा। साधक में मुक्ति पाने की प्रबल आकांक्षा होनी चाहिए। जैसे डूबते हुए व्यक्ति को जल से बाहर निकलने की तीव्र इच्छा होती है उसी प्रकार साधक में संसार बंधन से मुक्त होने की तीव्र इच्छा होनी चाहिए। इस इच्छा के बिना साधना में मन नहीं लगता।

इन चार साधनों के अतिरिक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी सत्य की अनुभूति के महत्वपूर्ण साधन हैं। श्रवण का अर्थ है गुरु से शास्त्रों का श्रवण करना। मनन का अर्थ है सुनी हुई बातों पर विचार करना और अपनी बुद्धि से उन्हें समझना। निदिध्यासन का अर्थ है उन सत्यों का निरंतर चिंतन और ध्यान करना जब तक कि वे अनुभव में न आ जाएं। इन तीनों साधनों से साधक को सत्य का साक्षात्कार होता है।

2.5.4 आत्मसाक्षात्कार और सत्य

आत्मसाक्षात्कार का अर्थ है अपनी वास्तविक सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव करना। यह साधारण ज्ञान से भिन्न है। साधारण ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों पृथक् होते हैं परंतु आत्मसाक्षात्कार में ये तीनों एक हो जाते हैं। जानने वाला, जानने की क्रिया और जानने का विषय सब एक हो जाते हैं।

आत्मसाक्षात्कार ही सत्य की वास्तविक अनुभूति है। जब साधक को आत्मा का साक्षात्कार होता है तो उसे यह बोध होता है कि वह अनंत, अविनाशी और आनंद स्वरूप है। उसे यह अनुभव होता है कि वह शरीर, मन और इंद्रियों से भिन्न है। वह जन्म-मृत्यु से परे है। यही मोक्ष या मुक्ति की अवस्था है।

उपनिषदों में आत्मसाक्षात्कार को विभिन्न रूपों में वर्णित किया गया है। कहीं इसे ब्रह्मानुभव कहा गया है, कहीं आत्मज्ञान और कहीं सत्य का साक्षात्कार। परंतु इन सभी शब्दों का अर्थ एक ही है। यह वह अवस्था है जहां साधक अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है और सभी भ्रमों से मुक्त हो जाता है।

केनोपनिषद में इस अवस्था को अत्यंत सुंदर ढंग से वर्णित किया गया है। कहा गया है कि जिसने आत्मा को जान लिया उसके लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। वह सर्वज्ञ हो जाता है। उसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती क्योंकि वह सब कुछ पा चुका होता है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता क्योंकि उसने अमृत तत्व को पा लिया है। यही सत्य की सहज अनुभूति है।

बोध प्रश्न

1. यक्ष के प्रश्न आज के समाज के लिए उतने ही प्रासंगिक हैं जितने प्राचीन काल में थे – इस कथन का विश्लेषण कीजिए।
2. आत्मा और ब्रह्म के संबंध को अद्वैत वेदांत के परिप्रेक्ष्य में समझाइए।
3. मन के चंचल स्वभाव और उसके नियंत्रण के उपायों की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।
4. युधिष्ठिर के चरित्र में निहित नैतिक गुणों का विश्लेषण यक्षोपाख्यान के संदर्भ में कीजिए।
5. समकालीन जीवन की समस्याओं के समाधान में यक्षोपाख्यान की शिक्षाएं किस प्रकार उपयोगी हो सकती हैं?

2.6 यक्षोपाख्यान का परिचय

2.6.1 यक्षोपाख्यान की कथा

यक्षोपाख्यान महाभारत के वनपर्व में वर्णित एक अत्यंत महत्वपूर्ण और शिक्षाप्रद आख्यान है। यह कथा पांडवों के वनवास काल की एक घटना है जिसमें यक्ष और युधिष्ठिर के बीच एक अद्भुत दार्शनिक संवाद हुआ। इस संवाद में जीवन, मृत्यु, धर्म और नीति से संबंधित अनेक गंभीर प्रश्न पूछे गए और उनके उत्तर दिए गए। यह आख्यान भारतीय साहित्य के सबसे प्रसिद्ध प्रश्नोत्तर संवादों में से एक है।

कथा इस प्रकार है कि एक बार पांडव वन में भटक रहे थे। उन्हें प्यास लगी तो युधिष्ठिर ने नकुल को जल लाने के लिए भेजा। नकुल एक सरोवर के पास पहुंचा। जैसे ही उसने जल पीने के लिए हाथ बढ़ाया एक अदृश्य वाणी ने कहा कि पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो तभी जल पी सकते हो। नकुल ने इस चेतावनी की उपेक्षा की और जल पी लिया। तत्काल वह मूर्छित होकर गिर पड़ा।

जब नकुल बहुत देर तक नहीं लौटा तो युधिष्ठिर ने सहदेव को भेजा। सहदेव के साथ भी वही हुआ। फिर अर्जुन गया और फिर भीम। चारों भाई सरोवर के किनारे मूर्छित पड़े थे। अंत में युधिष्ठिर स्वयं गए। जब उन्होंने अपने चारों भाइयों को मूर्छित देखा तो वे अत्यंत दुखी हुए। तभी वही अदृश्य वाणी ने कहा कि ये तेरे भाई मेरी आज्ञा न मानने के कारण इस दशा में हैं। यदि तू जल पीना चाहता है तो पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दे।

युधिष्ठिर ने विनम्रतापूर्वक कहा कि हे देव आप कौन हैं और आपके प्रश्न क्या हैं। तब उस यक्ष ने अपना परिचय दिया और कहा कि यह सरोवर मेरा है और मैं इसका रक्षक हूँ। तुम्हारे भाइयों ने मेरी आज्ञा की अवहेलना की इसलिए वे इस दशा में हैं। यदि तुम मेरे प्रश्नों का सही उत्तर दोगे तो तुम जल पी सकते हो और तुम्हारे भाई भी जीवित हो जाएंगे।

युधिष्ठिर ने यक्ष के सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। यक्ष उनके उत्तरों से अत्यंत प्रसन्न हुआ। अंत में यक्ष ने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट किया। वह कोई और नहीं बल्कि स्वयं धर्मराज थे जो युधिष्ठिर के पिता थे। उन्होंने युधिष्ठिर की परीक्षा ली थी और युधिष्ठिर इस परीक्षा में सफल हुए। धर्मराज ने प्रसन्न होकर चारों भाइयों को जीवित कर दिया और पांडवों को आशीर्वाद दिया।

2.6.2 यक्ष-युधिष्ठिर संवाद

यक्ष और युधिष्ठिर के बीच जो संवाद हुआ वह भारतीय साहित्य के सबसे गहन और शिक्षाप्रद संवादों में से एक है। इस संवाद में यक्ष ने युधिष्ठिर से विभिन्न विषयों पर प्रश्न पूछे जिनमें धर्म, नीति, जीवन, मृत्यु, सुख, दुख, मित्रता, शत्रुता और अनेक अन्य विषय सम्मिलित थे। युधिष्ठिर ने इन सभी प्रश्नों का अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्ण और संतुलित उत्तर दिया।

यक्ष के कुछ प्रमुख प्रश्न और युधिष्ठिर के उत्तर इस प्रकार हैं। यक्ष ने पूछा कि सूर्य को कौन उदय करवाता है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि ब्रह्म सूर्य को उदय करवाता है। यक्ष ने पूछा कि उसके साथी कौन हैं। युधिष्ठिर ने कहा कि देवता उसके साथी हैं। यक्ष ने पूछा कि उसे कौन अस्त करता है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि धर्म उसे अस्त करता है। यक्ष ने पूछा कि वह किसमें प्रतिष्ठित है। युधिष्ठिर ने कहा कि वह सत्य में प्रतिष्ठित है।

यक्ष ने पूछा कि किस वस्तु को छोड़ने से मनुष्य सबका प्रिय हो जाता है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि अभिमान को छोड़ने से मनुष्य सबका प्रिय हो जाता है। यक्ष ने पूछा कि किस वस्तु को छोड़ने से मनुष्य धनी हो जाता है। युधिष्ठिर ने कहा कि लोभ को छोड़ने से मनुष्य धनी हो जाता है। यक्ष ने पूछा कि किस वस्तु को छोड़ने से मनुष्य सुखी हो जाता है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि तृष्णा को छोड़ने से मनुष्य सुखी हो जाता है।

यक्ष ने पूछा कि मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु कौन है। युधिष्ठिर ने कहा कि क्रोध मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। यक्ष ने पूछा कि सबसे बड़ा रोग कौन सा है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि लोभ सबसे बड़ा रोग है। यक्ष ने पूछा कि सबसे उत्तम धन कौन सा है। युधिष्ठिर ने कहा कि विद्या सबसे उत्तम धन है। यक्ष ने पूछा कि सबसे उत्तम सुख कौन सा है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि संतोष सबसे उत्तम सुख है।



यक्ष ने पूछा कि धर्म का सार क्या है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि आत्मवत् सर्वभूतेषु अर्थात् सभी प्राणियों को अपने समान समझना ही धर्म का सार है। यक्ष ने पूछा कि मार्ग कौन सा है। युधिष्ठिर ने कहा कि सत्पुरुषों द्वारा बताया गया मार्ग ही सच्चा मार्ग है। यक्ष ने पूछा कि संसार में सबसे आश्चर्यजनक बात क्या है। युधिष्ठिर ने एक अत्यंत गहन उत्तर दिया कि प्रतिदिन अनेक प्राणी मृत्यु को प्राप्त होते हैं फिर भी जो शेष हैं वे सोचते हैं कि वे सदा जीवित रहेंगे। इससे बढ़कर आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है।

इस संवाद के अंत में यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा कि वे अपने चारों में से किसी एक भाई को जीवित कर सकते हैं तो किसे जीवित करना चाहेंगे। युधिष्ठिर ने कहा कि नकुल को जीवित किया जाए। यक्ष ने आश्चर्य से पूछा कि भीम और अर्जुन जैसे बलवान भाइयों को छोड़कर नकुल को क्यों। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि उनके पिता की दो पत्नियां थीं कुंती और माद्री। कुंती के पुत्रों में से वे स्वयं जीवित हैं अतः माद्री का भी एक पुत्र जीवित रहना चाहिए। यह न्याय की मांग है। यक्ष इस उत्तर से अत्यंत प्रसन्न हुए और उन्होंने चारों भाइयों को जीवित कर दिया।

बोध प्रश्न—सत्य/असत्य

1. आत्मा जड़ तत्व है और मन चैतन्य तत्व है।
 2. केनोपनिषद् के अनुसार आत्मा को वाणी से व्यक्त किया जा सकता है।
 3. यक्ष वास्तव में धर्मराज थे जो युधिष्ठिर की परीक्षा ले रहे थे।
 4. संतोष को सबसे बड़ा दुख माना गया है।
 5. युधिष्ठिर ने नकुल को जीवित करने का चुनाव न्याय के कारण किया।
 6. चार्वाक दर्शन आत्मा की सत्ता में विश्वास करता है।
 7. अभ्यास और वैराग्य से मन को नियंत्रित किया जा सकता है।
 8. मन वायु से तीव्र है।
 9. लोभ सबसे बड़ा रोग है।
 10. आत्मसाक्षात्कार साधारण ज्ञान का विषय है।
-

2.7 यक्षोपाख्यान के नैतिक उपदेश

2.7.1 धर्म और नीति संबंधी शिक्षाएं

यक्षोपाख्यान में अनेक धर्म और नीति संबंधी शिक्षाएं निहित हैं जो आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं जितनी हजारों वर्ष पूर्व थीं। इस आख्यान से हमें जीवन जीने की कला और आचरण के मूलभूत सिद्धांत प्राप्त होते हैं।

प्रथम शिक्षा है धर्म की सर्वोच्चता। यक्ष ने स्पष्ट किया कि धर्म ही जीवन का आधार है। जो धर्म का पालन करता है उसकी रक्षा धर्म करता है। युधिष्ठिर ने अपने संपूर्ण जीवन में धर्म का पालन किया

इसीलिए वे धर्मराज कहलाए। इस आख्यान में भी उनकी धार्मिकता की परीक्षा हुई और वे सफल रहे। यह शिक्षा हमें बताती है कि विपरीत परिस्थितियों में भी धर्म का साथ नहीं छोड़ना चाहिए।

द्वितीय शिक्षा है सत्य का महत्व। युधिष्ठिर ने यक्ष के प्रश्नों का सत्य उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि सत्य में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। सत्य ही धर्म का मूल है। जो सत्य बोलता है उसे कभी पराजय नहीं होती। यह शिक्षा हमें प्रेरित करती है कि हम सदैव सत्य का आचरण करें चाहे परिस्थितियां कितनी भी कठिन क्यों न हों।

तृतीय शिक्षा है अहंकार का त्याग। युधिष्ठिर ने बताया कि अहंकार को छोड़ने से मनुष्य सबका प्रिय हो जाता है। अहंकार मनुष्य की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा है। यह मनुष्य को दूसरों से अलग करता है और उसे अप्रिय बनाता है। नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीम सभी में अपनी शक्ति का अहंकार था इसीलिए उन्होंने यक्ष की बात नहीं मानी और मूर्छित हो गए। युधिष्ठिर में यह अहंकार नहीं था इसीलिए वे सफल हुए।

चतुर्थ शिक्षा है लोभ और तृष्णा का त्याग। युधिष्ठिर ने बताया कि लोभ सबसे बड़ा रोग है और तृष्णा को छोड़ने से मनुष्य सुखी हो जाता है। लोभ और तृष्णा मनुष्य को कभी संतुष्ट नहीं होने देते। जितना मिलता है उतना और पाने की इच्छा बढ़ती जाती है। इससे मनुष्य सदा दुखी रहता है। अतः लोभ और तृष्णा का त्याग करना चाहिए।

पंचम शिक्षा है क्रोध पर नियंत्रण। युधिष्ठिर ने बताया कि क्रोध मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। क्रोध में मनुष्य विवेक खो देता है और गलत कार्य कर बैठता है। क्रोध संबंधों को नष्ट करता है और मनुष्य को अकेला कर देता है। अतः क्रोध पर नियंत्रण रखना अत्यंत आवश्यक है।

2.7.2 जीवन मूल्यों की शिक्षा

यक्षोपाख्यान में अनेक जीवन मूल्यों की शिक्षा दी गई है जो मनुष्य को सार्थक जीवन जीने में सहायता करती हैं।

संतोष का मूल्य इस आख्यान में विशेष रूप से उभारा गया है। युधिष्ठिर ने बताया कि संतोष सबसे उत्तम सुख है। जो व्यक्ति संतुष्ट है वह संसार का सबसे सुखी व्यक्ति है। संतोष का अर्थ है जो है उसमें प्रसन्न रहना। इसका अर्थ प्रयास छोड़ देना नहीं है बल्कि परिणाम के प्रति आसक्ति न रखना है। संतोषी व्यक्ति हर परिस्थिति में प्रसन्न रहता है।

विद्या का मूल्य भी इस आख्यान में प्रतिपादित किया गया है। युधिष्ठिर ने विद्या को सर्वोत्तम धन बताया है। धन, संपत्ति, सोना, चांदी ये सब नष्ट हो सकते हैं या चोरी हो सकते हैं परंतु विद्या कभी नष्ट नहीं होती। विद्या बांटने से बढ़ती है घटती नहीं। विद्या मनुष्य को सम्मान और प्रतिष्ठा प्रदान करती है। अतः विद्या प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

समदृष्टि का मूल्य इस आख्यान की सबसे महत्वपूर्ण शिक्षाओं में से एक है। युधिष्ठिर ने धर्म का सार बताते हुए कहा कि सभी प्राणियों को अपने समान समझना ही धर्म है। इसका अर्थ है कि जो दुख हमें



अप्रिय है वही दुख दूसरों को भी अप्रिय है और जो सुख हमें प्रिय है वही सुख दूसरों को भी प्रिय है। अतः दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा हम अपने लिए चाहते हैं। न्याय का मूल्य युधिष्ठिर के चरित्र में स्पष्ट दिखाई देता है। जब यक्ष ने उनसे पूछा कि किस भाई को जीवित करना चाहते हैं तो उन्होंने नकुल को चुना क्योंकि यह न्याय की मांग थी। उन्होंने अपने सगे भाइयों अर्जुन और भीम को नहीं चुना बल्कि सौतेले भाई नकुल को चुना ताकि दोनों माताओं के पुत्र जीवित रहें। यह निष्पक्षता और न्याय का उत्कृष्ट उदाहरण है।

2.7.3 आत्म-संयम और धैर्य का महत्व

यक्षोपाख्यान में आत्म-संयम और धैर्य के महत्व पर विशेष बल दिया गया है। इस आख्यान की पूरी कथा इसी शिक्षा पर केंद्रित है।

नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीम चारों भाइयों में आत्म-संयम का अभाव था। जब यक्ष ने उन्हें चेतावनी दी कि पहले प्रश्नों का उत्तर दो तब जल पियो तो उन्होंने इस चेतावनी की उपेक्षा की। उनकी प्यास इतनी तीव्र थी कि उन्होंने धैर्य नहीं रखा और जल पी लिया। परिणामस्वरूप वे मूर्छित हो गए। यदि उन्होंने थोड़ा धैर्य रखा होता और यक्ष की बात सुनी होती तो यह स्थिति नहीं आती।

युधिष्ठिर में आत्म-संयम और धैर्य का गुण विद्यमान था। उन्होंने प्यास लगी होने के बावजूद पहले यक्ष की बात सुनी। उन्होंने विनम्रतापूर्वक यक्ष से प्रश्न पूछे और उनके सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। अपने भाइयों को मूर्छित देखकर भी उन्होंने क्रोध नहीं किया बल्कि धैर्य से काम लिया। इसी आत्म-संयम और धैर्य के कारण वे इस परीक्षा में सफल हुए।

आत्म-संयम का अर्थ है अपनी इंद्रियों और मन पर नियंत्रण रखना। जो व्यक्ति अपनी इंद्रियों का दास है वह कभी सफल नहीं हो सकता। विपरीत परिस्थितियों में भी संयम रखना आवश्यक है। जैसे एक कुशल नाविक तूफान में भी धैर्य से नाव चलाता है उसी प्रकार एक बुद्धिमान व्यक्ति कठिन परिस्थितियों में भी धैर्य रखता है।

धैर्य को भारतीय संस्कृति में अत्यंत महत्वपूर्ण गुण माना गया है। कहा जाता है कि धैर्य एक तपस्या है। जो व्यक्ति धैर्य रख सकता है वह किसी भी लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। धैर्य के अभाव में मनुष्य गलत निर्णय लेता है और बाद में पछताता है। अतः हर परिस्थिति में धैर्य रखना चाहिए।

बोध प्रश्न

1. आत्मा और मन में क्या अंतर है? विस्तार से समझाइए।
2. केनोपनिषद् में आत्मा के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
3. सत्य की अनुभूति के चार साधन कौन से हैं? संक्षेप में वर्णन कीजिए।
4. यक्षोपाख्यान की कथा संक्षेप में लिखिए।
5. संतोष सबसे बड़ा सुख है - इस कथन की व्याख्या कीजिए।
6. मन की वृत्तियां और उनके नियंत्रण के उपाय बताइए।



7. अद्वैत वेदांत में आत्मा की क्या व्याख्या दी गई है?
8. यक्ष के तीन प्रमुख प्रश्न और युधिष्ठिर के उत्तर लिखिए।
9. अहंकार को छोड़ने से मनुष्य सबका प्रिय हो जाता है— इस कथन की समीक्षा कीजिए।

2.8 यक्ष प्रश्नों का दार्शनिक विश्लेषण

2.8.1 प्रमुख यक्ष प्रश्न और उनके उत्तर

यक्ष के प्रश्न केवल साधारण प्रश्न नहीं थे बल्कि ये गहन दार्शनिक प्रश्न थे जिनके उत्तर में जीवन के मूलभूत सत्य छिपे हुए थे। आइए कुछ प्रमुख प्रश्नों का दार्शनिक विश्लेषण करें।

यक्ष ने पूछा कि पृथ्वी से बड़ा क्या है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि माता पृथ्वी से बड़ी है। इस उत्तर का गहन अर्थ है। पृथ्वी सभी प्राणियों को धारण करती है परंतु माता अपनी संतान को न केवल धारण करती है बल्कि उसका पालन-पोषण भी करती है। माता का प्रेम और त्याग पृथ्वी से भी अधिक विशाल है। यह उत्तर माता के प्रति सम्मान और कृतज्ञता की शिक्षा देता है।

यक्ष ने पूछा कि आकाश से ऊंचा क्या है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि पिता आकाश से ऊंचा है। पिता परिवार का आधार स्तंभ है। वह अपनी संतान को संरक्षण और मार्गदर्शन प्रदान करता है। जैसे आकाश सबको आश्रय देता है उसी प्रकार पिता अपने परिवार को आश्रय देता है परंतु पिता का स्नेह और बलिदान आकाश से भी ऊंचा है।

यक्ष ने पूछा कि वायु से तीव्र क्या है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि मन वायु से तीव्र है। यह एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सत्य है। मन की गति अत्यंत तीव्र है। एक क्षण में मन कहीं भी पहुंच सकता है। भूत, वर्तमान और भविष्य में विचरण कर सकता है। वायु कितनी भी तीव्र हो परंतु मन उससे भी अधिक तीव्र है।

यक्ष ने पूछा कि तृण से भी अधिक संख्या में क्या है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि चिंताएं तृण से भी अधिक हैं। यह जीवन का एक कटु सत्य है। मनुष्य की चिंताओं का कोई अंत नहीं है। एक चिंता समाप्त होती है तो दूसरी आ जाती है। घास के तिनके गिने जा सकते हैं परंतु मनुष्य की चिंताएं अनंत हैं।

यक्ष ने पूछा कि सोते हुए भी किसकी आंख बंद नहीं होती। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि मछली की। इस प्रश्न का प्रतीकात्मक अर्थ भी है। मछली सदा जागरूक रहती है अपने अस्तित्व के प्रति। इसी प्रकार मनुष्य को भी सदा जागरूक रहना चाहिए।

यक्ष ने पूछा कि जन्म लेकर भी क्या नहीं हिलता। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि अंडा। इस उत्तर में एक सूक्ष्म दार्शनिक संकेत है। अंडे में जीवन है परंतु वह स्वयं गतिहीन है। यह बताता है कि जीवन और गति आवश्यक रूप से एक साथ नहीं होते।

यक्ष ने पूछा कि किसे छोड़ने से मनुष्य प्रिय हो जाता है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि अभिमान को। अभिमान मनुष्य को दूसरों से अलग करता है। अभिमानी व्यक्ति स्वयं को श्रेष्ठ और दूसरों को हीन



समझता है। इससे वह अप्रिय हो जाता है। अभिमान छोड़ते ही मनुष्य विनम्र हो जाता है और सबका प्रिय बन जाता है।

2.8.2 यक्ष प्रश्नों की आधुनिक प्रासंगिकता

यक्ष प्रश्न हजारों वर्ष पूर्व पूछे गए थे परंतु आज भी ये उत्तरे ही प्रासंगिक हैं। आधुनिक जीवन की समस्याओं के समाधान में ये प्रश्न और उनके उत्तर अत्यंत सहायक हैं।

आज की भागदौड़ भरी जिंदगी में मनुष्य तनाव और चिंता से ग्रस्त है। युधिष्ठिर का उत्तर कि संतोष सबसे बड़ा सुख है आज भी उतना ही सत्य है। आधुनिक मनुष्य के पास अनेक सुविधाएं हैं परंतु संतोष नहीं है इसीलिए वह सुखी नहीं है। यदि वह संतोष का अभ्यास करे तो वह अधिक सुखी हो सकता है।

आज के समाज में अहंकार और आत्मप्रशंसा की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। सोशल मीडिया पर लोग अपनी उपलब्धियों का प्रदर्शन करते हैं। यह अहंकार का ही एक रूप है। युधिष्ठिर की शिक्षा कि अहंकार छोड़ने से मनुष्य प्रिय हो जाता है आज के समाज के लिए अत्यंत प्रासंगिक है।

लोभ और तृष्णा आज के समाज की प्रमुख समस्याएं हैं। मनुष्य अधिक से अधिक धन कमाना चाहता है, अधिक से अधिक वस्तुएं संग्रह करना चाहता है। इस लोभ के कारण वह अनैतिक कार्य करता है और दुखी होता है। युधिष्ठिर का उत्तर कि लोभ सबसे बड़ा रोग है आज के समाज के लिए एक चेतावनी है। क्रोध की समस्या आज भी उतनी ही गंभीर है। रोड रेज, घरेलू हिंसा, सामाजिक संघर्ष ये सब क्रोध के ही परिणाम हैं। युधिष्ठिर ने क्रोध को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु बताया है। यदि लोग क्रोध पर नियंत्रण रखें तो समाज में शांति और सद्भाव बना रहे।

समदृष्टि की शिक्षा आज के समाज के लिए अत्यंत आवश्यक है। जाति, धर्म, लिंग, वर्ग आदि के आधार पर भेदभाव आज भी विद्यमान है। युधिष्ठिर की शिक्षा कि सभी प्राणियों को अपने समान समझना ही धर्म है इस भेदभाव को दूर करने का मार्ग दिखाती है।

मृत्यु के प्रति जागरूकता की शिक्षा भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। युधिष्ठिर ने कहा कि संसार में सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि प्रतिदिन लोग मरते हैं फिर भी शेष लोग सोचते हैं कि वे नहीं मरेंगे। यदि मनुष्य मृत्यु के प्रति जागरूक रहे तो वह अपना जीवन अधिक सार्थक ढंग से जिएगा।

बोध प्रश्न – रिक्त स्थान भरिए

1. आत्मा _____, _____ और _____ स्वरूप है।
2. केनोपनिषद् _____ वेद से संबंधित है।
3. मन और आत्मा के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है।
4. यक्षोपाख्यान महाभारत के _____ पर्व में वर्णित है।
5. युधिष्ठिर ने _____ को सबसे बड़ा शत्रु बताया।
6. _____ सबसे उत्तम धन है।
7. सांख्य दर्शन में आत्मा को _____ कहा गया है।

8. तत्वमसि महावाक्य ————— उपनिषद् में आया है।
9. अंतःकरण की ————— वृत्तियाँ हैं।
10. ————— को छोड़ने से मनुष्य सबका प्रिय हो जाता है।

2.9 सारांश

इस इकाई में हमने भारतीय दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं का अध्ययन किया है। केनोपनिषद् और यक्षोपाख्यान दोनों ही भारतीय ज्ञान परंपरा के अमूल्य रत्न हैं। इन ग्रंथों में निहित ज्ञान केवल सैद्धांतिक नहीं है बल्कि व्यावहारिक भी है। आत्मा और मन की समझ हमें अपने आप को बेहतर ढंग से जानने में सहायता करती है। सत्य की अनुभूति जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरंतर साधना आवश्यक है।

यक्षोपाख्यान की नैतिक शिक्षाएं हमें जीवन जीने का सही मार्ग दिखाती हैं। धर्म, सत्य, संतोष, विद्या, समदृष्टि और आत्म-संयम जैसे मूल्य किसी भी युग में महत्वपूर्ण हैं। आज के भौतिकवादी युग में जब मनुष्य तनाव, चिंता और अशांति से ग्रस्त है तब ये प्राचीन शिक्षाएं नई दिशा प्रदान कर सकती हैं।

विद्यार्थियों को इन शिक्षाओं को केवल परीक्षा के लिए याद नहीं करना चाहिए बल्कि इन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयास करना चाहिए। जब हम इन मूल्यों को आत्मसात करते हैं तभी इनका वास्तविक लाभ प्राप्त होता है। यह ज्ञान हमें न केवल बेहतर व्यक्ति बनाता है बल्कि समाज को भी बेहतर बनाने में सहायक होता है। इस इकाई में हमने केनोपनिषद् के संदर्भ में आत्मा और मन की अवधारणा का विस्तृत अध्ययन किया। हमने जाना कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है और यह शरीर, मन तथा इंद्रियों से भिन्न है। आत्मा नित्य, अविनाशी और सच्चिदानंद स्वरूप है। विभिन्न भारतीय दर्शनों ने आत्मा की व्याख्या अपने-अपने दृष्टिकोण से की है। केनोपनिषद् में आत्मा को श्रोत्र का श्रोत्र और मनसो मनरू कहा गया है जिसका अर्थ है कि यही वह तत्व है जो सभी इंद्रियों और मन को संचालित करता है।

मन जड़ तत्व है जो आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होता है। मन आत्मा और बाह्य जगत् के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है। मन स्वभाव से चंचल है और इसे नियंत्रित करने के लिए अभ्यास और वैराग्य आवश्यक है। आत्मा और मन का संबंध अत्यंत सूक्ष्म है और इसे समझने से ज्ञान की प्रक्रिया को समझा जा सकता है।

सत्य की सहज अनुभूति भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य है। सत्य वह है जो तीनों कालों में एक सा रहे। उपनिषदों में ब्रह्म या आत्मा को ही परम सत्य माना गया है। सत्य की अनुभूति के लिए विवेक, वैराग्य, षट्संपत्ति और मुमुक्षुत्व ये चार साधन आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी सत्य की अनुभूति में सहायक हैं। आत्मसाक्षात्कार ही सत्य की वास्तविक अनुभूति है।

यक्षोपाख्यान महाभारत का एक अत्यंत महत्वपूर्ण आख्यान है जिसमें यक्ष और युधिष्ठिर के बीच गहन दार्शनिक संवाद हुआ। इस संवाद में जीवन, मृत्यु, धर्म और नीति से संबंधित अनेक प्रश्न पूछे गए जिनके युधिष्ठिर ने बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर दिए। यक्ष वास्तव में धर्मराज थे जो युधिष्ठिर की परीक्षा ले रहे थे।

इस आख्यान से हमें अनेक नैतिक शिक्षाएं प्राप्त होती हैं जैसे धर्म की सर्वोच्चता, सत्य का महत्व, अहंकार का त्याग, लोभ और तृष्णा से मुक्ति, क्रोध पर नियंत्रण, संतोष का मूल्य, विद्या का महत्व, समदृष्टि, न्याय तथा आत्म-संयम और धैर्य का महत्व। ये शिक्षाएं आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं जितनी प्राचीन काल में थीं।

यक्ष के प्रश्न गहन दार्शनिक प्रश्न थे जो जीवन के मूलभूत सत्यों को उजागर करते हैं। इन प्रश्नों का विश्लेषण हमें जीवन को समझने में सहायता करता है। आधुनिक समाज की समस्याओं जैसे तनाव, चिंता, अहंकार, लोभ, क्रोध और भेदभाव के समाधान में ये शिक्षाएं अत्यंत उपयोगी हैं।

2.10 शब्दावली

आत्मा – चैतन्य तत्व जो शरीर में निवास करता है परंतु शरीर से भिन्न है

ब्रह्म – परम सत्य, सर्वोच्च तत्व जो सृष्टि का मूल है

मन – अंतःकरण की वह वृत्ति जो संकल्प-विकल्प करती है

बुद्धि – अंतःकरण की वह वृत्ति जो निश्चय करती है

चित्त – अंतःकरण की वह वृत्ति जो स्मरण करती है

अहंकार – अंतःकरण की वह वृत्ति जो अभिमान करती है

सत्य – वह जो तीनों कालों में एक सा रहे, यथार्थ

सच्चिदानंद – सत् (अस्तित्व), चित् (चेतना) और आनंद (परम सुख) का समन्वय

केनोपनिषद् – सामवेद से संबंधित एक प्रमुख उपनिषद्

यक्षोपाख्यान – महाभारत के वनपर्व में वर्णित यक्ष और युधिष्ठिर का संवाद

विवेक – नित्य और अनित्य का भेद जानना

वैराग्य – विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग

षट्संपत्ति – छह गुणों का संग्रह (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान)

मुमुक्षुत्व – मोक्ष की तीव्र इच्छा

श्रवण – गुरु से शास्त्रों का श्रवण करना

मनन – सुनी हुई बातों पर विचार करना

निदिध्यासन – सत्य का निरंतर चिंतन और ध्यान

आत्मसाक्षात्कार – आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव

धर्म – कर्तव्य, नैतिक मूल्य, जीवन का सही मार्ग

पुरुष – सांख्य दर्शन में आत्मा का नाम

प्रकृति – सांख्य दर्शन में जड़ तत्व जो जगत की उत्पत्ति का कारण है

माया – अज्ञान, जो वास्तविकता को छिपाता है

मोक्ष – बंधन से मुक्ति, आवागमन से छुटकारा

समदृष्टि – सबको समान दृष्टि से देखना

तृष्णा – तीव्र इच्छा, लालसा

संतोष – जो है उसमें प्रसन्न रहना

2.11 बोध प्रश्न

1. आत्मा की अवधारणा का विभिन्न भारतीय दर्शनों के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
2. मन और आत्मा के पारस्परिक संबंध को विस्तार से समझाइए। ज्ञान प्राप्ति में दोनों की क्या भूमिका है?
3. उपनिषदों में सत्य की अवधारणा का विस्तृत वर्णन कीजिए। सत्य की अनुभूति के विभिन्न साधनों की व्याख्या कीजिए।
4. यक्षोपाख्यान के नैतिक उपदेशों का विस्तार से वर्णन कीजिए। इन उपदेशों की आधुनिक प्रासंगिकता पर टिप्पणी कीजिए।
5. यक्ष के प्रमुख प्रश्नों और युधिष्ठिर के उत्तरों का दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत कीजिए।
6. आत्म-संयम और धैर्य का महत्व यक्षोपाख्यान के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
7. केनोपनिषद् के अनुसार आत्मा साधारण ज्ञान का विषय क्यों नहीं है? विस्तार से समझाइए।
8. जीवन मूल्यों की शिक्षा यक्षोपाख्यान से किस प्रकार प्राप्त होती है? उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।
9. सत्यमेव जयते – इस महावाक्य की व्याख्या उपनिषदों के संदर्भ में कीजिए।
10. धर्म का सार क्या है? युधिष्ठिर के उत्तर के आधार पर विस्तृत चर्चा कीजिए।



योग की परिभाषा — आत्मा का स्वरूप और आत्मानुभूति की महत्ता

इकाई की संरचना

- 3.1 योग की परिभाषा और अर्थ
- 3.2 योग के विभिन्न प्रकार
- 3.3 योग दर्शन का परिचय
- 3.4 आत्मा का स्वरूप और अवधारणा
- 3.5 आत्मा और शरीर का संबंध
- 3.6 आत्मा की विशेषताएं
- 3.7 आत्मानुभूति का अर्थ और महत्व
- 3.8 आत्मानुभूति के साधन
- 3.9 आत्मानुभूति की प्राप्ति में बाधाएं
- 3.10 आत्मानुभूति और जीवन में इसका प्रभाव
- 3.11 बोध प्रश्न

3.1 योग की परिभाषा और अर्थ

योग भारतीय संस्कृति की एक अमूल्य धरोहर है जो हजारों वर्षों से मानव जीवन को दिशा प्रदान करती आ रही है। योग शब्द संस्कृत के युज धातु से बना है जिसका अर्थ होता है जोड़ना या मिलाना। योग का मूल उद्देश्य व्यक्तिगत चेतना को सार्वभौमिक चेतना से जोड़ना है। जब हम योग की बात करते हैं तो यह केवल शारीरिक व्यायाम तक सीमित नहीं है बल्कि यह एक संपूर्ण जीवन पद्धति है जो मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा को एक सूत्र में पिरोती है।

महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में योग की परिभाषा अत्यंत स्पष्ट रूप से दी है। उन्होंने कहा है योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है। इसका तात्पर्य यह है कि जब मन की सभी चंचलताएं, विकार और अस्थिरताएं समाप्त हो जाती हैं तो वह स्थिति योग की स्थिति कहलाती है। चित्त के अंदर निरंतर विचारों का आना-जाना चलता रहता है। ये विचार कभी सुखद होते हैं तो कभी दुखद, कभी सकारात्मक होते हैं तो कभी नकारात्मक। योग का अभ्यास इन्हीं मानसिक उतार-चढ़ाव को नियंत्रित करने और अंततः पूर्णतः शांत करने की प्रक्रिया है।

भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने योग को विभिन्न संदर्भों में परिभाषित किया है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है योगः कर्मसु कौशलम् अर्थात् कर्मों में कुशलता ही योग है। यह परिभाषा योग के व्यावहारिक पक्ष को उजागर करती है। इसका अर्थ है कि जीवन के प्रत्येक कार्य को पूर्ण समर्पण, एकाग्रता और कुशलता



के साथ करना ही योग है। यह योग की परिभाषा सामान्य मनुष्य के लिए अधिक प्रासंगिक है क्योंकि यह रोजमर्रा के जीवन में योग के सिद्धांतों को लागू करने का मार्ग दिखाती है।

गीता में एक अन्य स्थान पर श्रीकृष्ण ने कहा है समत्वं योग उच्यते अर्थात् समता ही योग है। यहां समता का अर्थ है सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय, मान-अपमान आदि द्वंद्वों में समान भाव बनाए रखना। जब व्यक्ति जीवन की सभी परिस्थितियों में संतुलित और स्थिर रहता है तो वह योग की स्थिति में होता है। यह मानसिक संतुलन और भावनात्मक परिपक्वता योग साधना का एक महत्वपूर्ण फल है।

योग का अर्थ केवल मानसिक या आध्यात्मिक स्तर तक सीमित नहीं है। शारीरिक स्तर पर योग का अर्थ है शरीर के विभिन्न अंगों और प्रणालियों के बीच सामंजस्य स्थापित करना। जब शरीर के सभी अंग सुचारु रूप से कार्य करते हैं और उनमें पूर्ण संतुलन होता है तो वह भी योग की अवस्था है। आधुनिक विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि योगासन और प्राणायाम शरीर की विभिन्न प्रणालियों में संतुलन लाते हैं और स्वास्थ्य को बढ़ावा देते हैं।

3.2 योग के विभिन्न प्रकार

भारतीय योग परंपरा में योग के अनेक प्रकार बताए गए हैं। प्रत्येक प्रकार का योग एक विशेष मार्ग है जो अंततः एक ही लक्ष्य अर्थात् आत्म-साक्षात्कार या मोक्ष की ओर ले जाता है। विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृति, स्वभाव और क्षमताएं अलग-अलग होती हैं इसलिए विभिन्न मार्गों की आवश्यकता होती है। मुख्य रूप से चार प्रकार के योग माने जाते हैं जिन्हें भगवद्गीता में विस्तार से वर्णित किया गया है।

कर्मयोग निष्काम कर्म का मार्ग है। इस योग में व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन बिना फल की इच्छा के करता है। कर्मयोग का अभ्यासी अपने सभी कार्यों को ईश्वर को समर्पित कर देता है और परिणाम की चिंता नहीं करता। यह योग गृहस्थ जीवन जीने वाले व्यक्तियों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। जब व्यक्ति अपने दैनिक कार्यों को पूर्ण समर्पण और निष्ठा से करता है और उनके फल में आसक्त नहीं होता तो वह कर्मयोग का अभ्यास कर रहा होता है। कर्मयोग अहंकार को नष्ट करता है और व्यक्ति को निस्वार्थ सेवा की भावना से भर देता है।

भक्तियोग प्रेम और समर्पण का मार्ग है। इस योग में साधक ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम और भक्ति के माध्यम से उनसे एकाकार होने का प्रयास करता है। भक्तियोग हृदय की भावनाओं को परिष्कृत करता है और व्यक्ति को दिव्य प्रेम से भर देता है। इस मार्ग में साधक को ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण की आवश्यकता होती है। भक्तियोग में कीर्तन, भजन, जप, पूजा, अर्चना आदि विभिन्न साधनाएं हैं। महान भक्तों जैसे मीरा, तुलसीदास, सूरदास, चैतन्य महाप्रभु आदि ने भक्तियोग के माध्यम से ही परम सिद्धि प्राप्त की।

ज्ञानयोग विवेक और ज्ञान का मार्ग है। इस योग में साधक आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का गहन चिंतन और मनन करता है। ज्ञानयोग बुद्धि प्रधान मार्ग है जिसमें तर्क, विचार और आत्म-विश्लेषण का महत्वपूर्ण स्थान है। इस मार्ग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति सत्य और असत्य, नित्य और अनित्य,



आत्मा और अनात्मा के बीच भेद करना सीखता है। वेदांत दर्शन मुख्य रूप से ज्ञानयोग पर आधारित है। शंकराचार्य जैसे महान आचार्यों ने ज्ञानयोग को सर्वोच्च मार्ग बताया है। यह मार्ग बौद्धिक रूप से विकसित और जिज्ञासु व्यक्तियों के लिए विशेष उपयुक्त है।

राजयोग अष्टांग योग के नाम से भी जाना जाता है। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में इस योग का विस्तृत वर्णन किया है। राजयोग में आठ अंग हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यह एक व्यवस्थित और वैज्ञानिक मार्ग है जो साधक को क्रमशः उच्च अवस्थाओं की ओर ले जाता है। राजयोग मन को नियंत्रित करने और एकाग्र करने पर विशेष बल देता है। इसमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी स्तरों पर साधना होती है। आधुनिक समय में योग कहते समय अधिकतर लोग राजयोग की ही बात करते हैं।

इन चार मुख्य मार्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य योग मार्ग भी हैं। हठयोग शारीरिक शुद्धि और प्राण नियंत्रण पर केंद्रित है। मंत्रयोग में मंत्रों के जाप और उनकी ध्वनि शक्ति का उपयोग किया जाता है। लययोग कुंडलिनी जागरण और चक्रों को सक्रिय करने से संबंधित है। ज्ञानी व्यक्ति समझते हैं कि ये सभी मार्ग अलग-अलग नहीं बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। व्यावहारिक जीवन में इन सभी मार्गों का समन्वित अभ्यास सबसे उत्तम है।

3.3 योग दर्शन का परिचय

योग दर्शन भारतीय दर्शन की छह प्रमुख प्रणालियों में से एक है। इन छह दर्शनों को षड्दर्शन कहा जाता है जिनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत शामिल हैं। योग दर्शन का मूल ग्रंथ महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योगसूत्र है। यह ग्रंथ अत्यंत संक्षिप्त लेकिन गहन अर्थों से भरा हुआ है। योगसूत्र में कुल मिलाकर 195 सूत्र हैं जो चार पादों या अध्यायों में विभाजित हैं समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद और कैवल्य पाद।

योग दर्शन सांख्य दर्शन से गहरा संबंध रखता है। सांख्य दर्शन मूल रूप से सैद्धांतिक है जबकि योग दर्शन व्यावहारिक है। कहा जाता है कि सांख्य ज्ञान देता है और योग उस ज्ञान को प्राप्त करने का साधन। सांख्य दर्शन में जगत की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का विस्तृत विवेचन है। इसमें पुरुष और प्रकृति को दो मूल तत्व माना गया है। योग दर्शन इसी सैद्धांतिक आधार को स्वीकार करता है और फिर साधना के व्यावहारिक मार्ग का निर्देश देता है।

योग दर्शन की तत्त्वमीमांसा में तीन प्रमुख तत्व माने गए हैं ईश्वर, पुरुष और प्रकृति। पुरुष शुद्ध चेतना है जो अपरिवर्तनशील और नित्य है। प्रकृति जड़ तत्व है जिससे संपूर्ण जगत की उत्पत्ति होती है। प्रकृति में सत्व, रजस और तमस नामक तीन गुण होते हैं। ईश्वर सर्वोच्च पुरुष है जो सदा मुक्त है और प्रकृति के बंधन में कभी नहीं आता। योग दर्शन में ईश्वर को साधना में सहायक माना गया है। ईश्वर की भक्ति और उनका ध्यान साधक को शीघ्र समाधि की अवस्था में पहुंचाने में सहायक होता है।



योग दर्शन का मनोविज्ञान अत्यंत विकसित और गहन है। चित्त की विभिन्न वृत्तियों, उनके कारणों और उन्हें नियंत्रित करने के उपायों का विस्तृत विवेचन किया गया है। पतंजलि ने चित्त की पांच वृत्तियां बताई हैं प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण सही ज्ञान है जो प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम से प्राप्त होता है। विपर्यय भ्रान्त ज्ञान है। विकल्प केवल शब्द पर आधारित कल्पना है। निद्रा एक विशेष मानसिक अवस्था है और स्मृति पूर्व अनुभवों का पुनः स्मरण है।

चित्त की इन वृत्तियों के दो प्रकार बताए गए हैं क्लिष्ट और अक्लिष्ट। क्लिष्ट वृत्तियां वे हैं जो दुख का कारण बनती हैं और बंधन में डालती हैं। अक्लिष्ट वृत्तियां शुभ और कल्याणकारी होती हैं। योग का उद्देश्य सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध करना है चाहे वे क्लिष्ट हों या अक्लिष्ट। जब सभी वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है तो पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही मोक्ष या कैवल्य की अवस्था है। योग दर्शन का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है।

बोध प्रश्न—व्याख्यात्मक प्रश्न

निम्नलिखित सूक्तियों की संदर्भ सहित व्याख्या कीजिए—

1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः
2. योगः कर्मसु कौशलम्
3. समत्वं योग उच्यते
4. अयमात्मा ब्रह्म
5. तत्त्वमसि

3.4 आत्मा का स्वरूप और अवधारणा

आत्मा भारतीय दर्शन की सबसे केंद्रीय अवधारणा है। सभी भारतीय दर्शनों में आत्मा के स्वरूप, उसकी प्रकृति और उसकी स्थिति पर विस्तृत चर्चा की गई है। आत्मा को विभिन्न नामों से जाना जाता है जैसे पुरुष, ब्रह्म, चैतन्य, सत् चिदानंद आदि। वेदों में आत्मा के बारे में कहा गया है अयमात्मा ब्रह्म अर्थात् यह आत्मा ही ब्रह्म है। यह वाक्य आत्मा और परमात्मा की एकता को स्थापित करता है।

आत्मा का सबसे मूलभूत स्वरूप चेतना है। चेतना वह तत्त्व है जो सभी प्राणियों में जीवन का संचार करता है। शरीर जड़ है लेकिन आत्मा की उपस्थिति से वह चेतन बन जाता है। जब आत्मा शरीर को छोड़ देती है तो शरीर निर्जीव हो जाता है। आत्मा सर्वव्यापी चेतना है जो सभी जीवों में समान रूप से विद्यमान है। मनुष्य हो या पशु, पक्षी हो या कीट, सभी में एक ही आत्मा विद्यमान है। बाहरी रूप भिन्न हो सकते हैं लेकिन भीतर की चेतना एक है।

उपनिषदों में आत्मा को नित्य, अविनाशी और अजन्मा बताया गया है। कठोपनिषद में कहा गया है कि आत्मा न जन्म लेती है न मरती है। यह सदा से है और सदा रहेगी। शस्त्र इसे काट नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसे भिगो नहीं सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती। भगवद्गीता में भी

भगवान श्रीकृष्ण ने आत्मा के इसी अविनाशी स्वरूप का वर्णन किया है। उन्होंने अर्जुन को समझाया कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नए वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करती है।

आत्मा का एक अन्य महत्वपूर्ण गुण है उसका आनंदस्वरूप होना। आत्मा स्वयं आनंद है और आनंद की खोज में भटकना आवश्यक नहीं है। हम जो भी सुख बाहरी वस्तुओं में खोजते हैं वह वास्तव में आत्मा का ही प्रतिबिंब है। तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है कि आत्मा रस स्वरूप है अर्थात् आनंद का सार है। जब मनुष्य अपनी आत्मा को जान लेता है तो उसे परम आनंद की प्राप्ति होती है जो शाश्वत और अक्षय है। यह आनंद बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता।

आत्मा निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में समझी जा सकती है। निर्गुण आत्मा वह है जो सभी गुणों और विशेषताओं से परे है। यह निराकार और अवर्णनीय है। वेदांत दर्शन में इसे नेति—नेति अर्थात् यह नहीं यह नहीं के द्वारा समझाया गया है। सगुण आत्मा वह है जिसे विभिन्न गुणों और विशेषताओं के साथ समझा जा सकता है। भक्ति परंपरा में आत्मा को सगुण रूप में ही पूजा जाता है। दोनों दृष्टिकोण अपने स्थान पर सही हैं और एक ही सत्य के विभिन्न पहलू हैं।

आत्मा की अवधारणा में एक महत्वपूर्ण प्रश्न है व्यक्तिगत आत्मा और सार्वभौमिक आत्मा का संबंध। द्वैत वेदांत के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। अज्ञान के कारण जीव अपने को अलग समझता है लेकिन वास्तविकता में दोनों एक ही हैं। द्वैत वेदांत के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा सदा भिन्न हैं। जीवात्मा परमात्मा का अंश है लेकिन कभी पूर्णतः एक नहीं हो सकती। विशिष्टाद्वैत इन दोनों के बीच का मार्ग है जो एकता में भेद और भेद में एकता को स्वीकार करता है।

बोध प्रश्न—लघु उत्तरीय

1. योग की पतंजलि द्वारा दी गई परिभाषा को स्पष्ट कीजिए।
2. कर्मयोग और भक्तियोग में क्या अंतर है?
3. आत्मानुभूति के विभिन्न साधनों का वर्णन कीजिए।
4. आत्मानुभूति की प्राप्ति में आने वाली पांच प्रमुख बाधाओं का विस्तार से वर्णन कीजिए।
5. आत्मानुभूति जीवन को किस प्रकार रूपांतरित करती है? कम से कम पांच प्रभावों का विवरण दीजिए।
6. योग के चार मुख्य मार्गों की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।
7. आत्मा की नित्यता और अविनाशी स्वरूप को उपनिषद और गीता के संदर्भ में समझाइए।
8. राजयोग के अष्टांग का संक्षिप्त परिचय देते हुए बताइए कि ये आठ अंग किस प्रकार एक दूसरे से जुड़े हैं।
9. गुरु की भूमिका और महत्व को आध्यात्मिक साधना के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
10. भगवद्गीता में वर्णित योग की विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण कीजिए।

3.5 आत्मा और शरीर का संबंध

आत्मा और शरीर के संबंध को समझना दार्शनिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण विषय है। यह प्रश्न सदियों से दार्शनिकों, योगियों और चिंतकों को आकर्षित करता रहा है कि चेतन आत्मा और जड़ शरीर के बीच क्या संबंध है और कैसे ये दोनों एक साथ कार्य करते हैं। भारतीय दर्शन में इस विषय पर गहन विचार किया गया है और विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए हैं।

सांख्य और योग दर्शन के अनुसार आत्मा और शरीर दो पूर्णतः भिन्न तत्व हैं। आत्मा चेतन है जबकि शरीर जड़ है। आत्मा पुरुष है और शरीर प्रकृति का उत्पाद है। इन दोनों का संबंध अस्थायी और आकस्मिक है। यह संबंध अविद्या या अज्ञान के कारण होता है। जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो यह संबंध टूट जाता है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाती है। इस दृष्टिकोण में शरीर को एक उपकरण या साधन माना गया है जिसका उपयोग आत्मा अपने अनुभवों के लिए करती है।

वेदांत दर्शन में आत्मा और शरीर के संबंध को अधिष्ठान और आधेय के रूप में समझाया गया है। आत्मा अधिष्ठान है अर्थात् आधार है और शरीर आधेय है अर्थात् आधार पर टिका हुआ। शरीर की सत्ता आत्मा पर निर्भर है लेकिन आत्मा की सत्ता शरीर पर निर्भर नहीं है। जिस प्रकार रस्सी पर सांप का भ्रम होता है उसी प्रकार आत्मा पर शरीर का भ्रम होता है। जब सही ज्ञान हो जाता है तो यह भ्रम समाप्त हो जाता है और केवल आत्मा ही शेष रहती है।

शरीर को तीन प्रकार का माना गया है स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। स्थूल शरीर वह है जो हमें दिखाई देता है और जो पंचमहाभूतों से बना है। यह शरीर मृत्यु के साथ नष्ट हो जाता है। सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार और पांच ज्ञानेंद्रियों तथा पांच कर्मेन्द्रियों से बना है। यह शरीर मृत्यु के बाद भी रहता है और अगले जन्म में जाता है। कारण शरीर सबसे सूक्ष्म है जो संस्कारों और वासनाओं का भंडार है। आत्मा इन तीनों शरीरों से भिन्न है लेकिन अज्ञानवश अपने को इन शरीरों के साथ एक मान लेती है। शरीर और आत्मा का संबंध कई दृष्टांतों से समझाया गया है। एक प्रसिद्ध दृष्टांत है पिंजरे में पक्षी का। शरीर पिंजरा है और आत्मा पक्षी है। जिस प्रकार पक्षी पिंजरे में बंद है लेकिन स्वयं स्वतंत्र है उसी प्रकार आत्मा शरीर में रहती है लेकिन स्वयं मुक्त है। जब पिंजरा टूट जाता है तो पक्षी उड़ जाता है उसी प्रकार जब शरीर नष्ट हो जाता है तो आत्मा मुक्त हो जाती है। एक अन्य दृष्टांत है तलवार और म्यान का। आत्मा तलवार है और शरीर म्यान है। तलवार म्यान में रहती है लेकिन उससे भिन्न है।

योग दर्शन में इस संबंध को और भी व्यावहारिक रूप से समझाया गया है। शरीर को आत्मा का मंदिर कहा गया है। यदि शरीर स्वस्थ और शुद्ध है तो आत्मा का प्रकाश अधिक स्पष्टता से चमकता है। यदि शरीर अस्वस्थ और अशुद्ध है तो आत्मा का प्रकाश धुंधला हो जाता है। इसलिए योग में शारीरिक शुद्धि और स्वास्थ्य पर बहुत बल दिया गया है। आसन, प्राणायाम और षट्कर्म आदि शरीर को शुद्ध करने की विधियां हैं। जब शरीर शुद्ध हो जाता है तो मन भी शुद्ध होता है और आत्म-साक्षात्कार में सहायता मिलती है।



आत्मा और शरीर के संबंध को समझने से जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। जब हम समझ जाते हैं कि हम शरीर नहीं बल्कि आत्मा हैं तो मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। शरीर की सीमाओं और कमजोरियों से हम प्रभावित नहीं होते। रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु केवल शरीर से संबंधित हैं, आत्मा से नहीं। यह ज्ञान अत्यंत शांति और स्थिरता प्रदान करता है। साथ ही यह ज्ञान शरीर के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं लाता बल्कि उसके सही उपयोग का मार्ग दिखाता है। शरीर एक साधन है जिसका उपयोग आत्मोन्नति के लिए किया जाना चाहिए।

बोध प्रश्न

1. क्या आत्मानुभूति के बिना जीवन पूर्ण हो सकता है? अपने विचार व्यक्त कीजिए।
 2. आधुनिक वैज्ञानिक युग में योग और आत्मज्ञान की क्या प्रासंगिकता है?
 3. क्या आत्मानुभूति सभी के लिए संभव है या यह केवल विशेष व्यक्तियों के लिए है?
 4. गृहस्थ जीवन जीते हुए भी क्या आत्मानुभूति संभव है? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए।
 5. आत्मज्ञान और सांसारिक सफलता में क्या कोई विरोध है? अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
-

3.6 आत्मा की विशेषताएं

आत्मा की अनेक विशेषताएं हैं जो उसे शरीर और मन से भिन्न करती हैं। इन विशेषताओं को समझना आत्मज्ञान की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। भारतीय दर्शन और उपनिषदों में आत्मा की विशेषताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। ये विशेषताएं आत्मा के शाश्वत और दिव्य स्वरूप को प्रकट करती हैं।

प्रथम विशेषता है आत्मा की नित्यता। आत्मा नित्य है अर्थात् सदा स्थायी है। यह न कभी उत्पन्न होती है न कभी नष्ट होती है। संसार में सभी वस्तुएं परिवर्तनशील हैं। शरीर बदलता है, मन बदलता है, परिस्थितियां बदलती हैं लेकिन आत्मा सदा एक जैसी रहती है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में आत्मा अपरिवर्तित रहती है। यह विशेषता आत्मा को संसार की सभी नश्वर वस्तुओं से श्रेष्ठ बनाती है।

द्वितीय विशेषता है आत्मा का चौतन्य स्वरूप। आत्मा शुद्ध चेतना है। यह स्वयं प्रकाशित है अर्थात् इसे जानने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है। सूर्य जिस प्रकार स्वयं प्रकाशित है और अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं चौतन्य है और शरीर और मन को चौतन्य प्रदान करती है। आत्मा की चेतना कभी कम या अधिक नहीं होती। यह सदा समान रूप से चौतन्य है। निद्रा, मूर्छा या किसी भी अवस्था में आत्मा की चेतना बनी रहती है।

तृतीय विशेषता है आत्मा का आनंद स्वरूप होना। आत्मा स्वयं आनंद है। यह आनंद बाहरी वस्तुओं पर निर्भर नहीं है। संसार के सभी सुख क्षणिक और परिवर्तनशील हैं लेकिन आत्मा का आनंद शाश्वत और अपरिवर्तनीय है। जब मनुष्य बाहरी वस्तुओं में सुख खोजता है तो वह वास्तव में अपनी ही आत्मा के आनंद को बाहर प्रक्षेपित कर रहा होता है। आत्मा का आनंद पूर्ण है जिसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है। यह आनंद दुख से मुक्त है और किसी विषय पर निर्भर नहीं है।



चतुर्थ विशेषता है आत्मा की सर्वव्यापकता। आत्मा सर्वत्र विद्यमान है। यह देश और काल की सीमाओं में बंधी नहीं है। जिस प्रकार आकाश सभी स्थानों में व्याप्त है उसी प्रकार आत्मा भी सर्वव्यापी है। यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्येक शरीर में अलग आत्मा प्रतीत होती है लेकिन वास्तव में एक ही आत्मा सभी में व्याप्त है। यह विशेषता सभी प्राणियों में एकता का भाव जगाती है और अहंकार को नष्ट करती है।

पंचम विशेषता है आत्मा का निर्गुण और निराकार होना। आत्मा में कोई गुण नहीं है क्योंकि गुण परिवर्तनशील होते हैं और आत्मा अपरिवर्तनशील है। आत्मा का कोई आकार नहीं है क्योंकि आकार सीमा का प्रतीक है और आत्मा असीम है। रंग, रूप, आकार, गंध, स्वाद आदि सभी शरीर से संबंधित हैं, आत्मा से नहीं। आत्मा इन सभी विशेषताओं से परे है। यह निर्गुण और निराकार होते हुए भी सभी गुणों का आधार है और सभी रूपों में प्रकट होती है।

षष्ठ विशेषता है आत्मा की स्वतंत्रता। आत्मा स्वभाव से स्वतंत्र है। बंधन और मुक्ति दोनों आत्मा पर आरोपित हैं। वास्तव में आत्मा कभी बंधी नहीं है। अज्ञान के कारण जीव अपने को बंधा हुआ समझता है। जब ज्ञान होता है तो यह भ्रम दूर हो जाता है और आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता में स्थित हो जाती है। यह स्वतंत्रता पूर्ण और निरपेक्ष है। कोई भी शक्ति आत्मा को बांध नहीं सकती क्योंकि बंधन केवल जड़ वस्तुओं का हो सकता है चेतन आत्मा का नहीं।

बोध प्रश्न—बहुविकल्पीय

1. महर्षि पतंजलि ने योग की परिभाषा किस रूप में दी है?
 - (क) कर्मसु कौशलम्
 - (ख) चित्तवृत्तिनिरोधः
 - (ग) समत्वं योग
 - (घ) ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति
2. योगसूत्र में कुल कितने सूत्र हैं?
 - (क) 108
 - (ख) 195
 - (ग) 155
 - (घ) 200
3. भगवद्गीता में योगः कर्मसु कौशलम् किसने कहा?
 - (क) अर्जुन
 - (ख) श्रीकृष्ण
 - (ग) व्यास
 - (घ) पतंजलि
4. राजयोग में कितने अंग हैं?

- (क) चार
(ख) छह
(ग) आठ
(घ) दस
5. आत्मा का मुख्य स्वरूप क्या है?
(क) जड़ता
(ख) चेतना
(ग) प्रकृति
(घ) माया
6. अयमात्मा ब्रह्म वाक्य किस ग्रंथ से है?
(क) भगवद्गीता
(ख) योगसूत्र
(ग) वेद
(घ) रामायण
7. शरीर कितने प्रकार के होते हैं?
(क) दो
(ख) तीन
(ग) चार
(घ) पांच
8. सांख्य दर्शन के दो मूल तत्व कौन से हैं?
(क) जीव और जगत
(ख) पुरुष और प्रकृति
(ग) आत्मा और माया
(घ) शरीर और मन
9. प्रकृति में कितने गुण होते हैं?
(क) दो
(ख) तीन
(ग) चार
(घ) पांच
10. आत्मा की कौन सी विशेषता नहीं है?
(क) नित्यता
(ख) परिवर्तनशीलता



(ग) चौतन्य

(घ) आनंद स्वरूप

3.7 आत्मानुभूति का अर्थ और महत्व

आत्मानुभूति भारतीय दर्शन और योग का चरम लक्ष्य है। आत्मानुभूति का शाब्दिक अर्थ है आत्मा का अनुभव या आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति। यह केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव है। आत्मानुभूति में व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है और समझ लेता है कि मैं शरीर नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं बल्कि शुद्ध चौतन्य आत्मा हूँ। यह अनुभूति सभी भ्रमों और अज्ञान को दूर कर देती है।

आत्मानुभूति को विभिन्न नामों से जाना जाता है जैसे आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मज्ञान, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, मुक्ति आदि। ये सभी शब्द एक ही अनुभूति के विभिन्न पहलुओं को व्यक्त करते हैं। वेदांत में इसे ब्रह्मज्ञान कहा गया है, योग में समाधि कहा गया है, बौद्ध धर्म में निर्वाण कहा गया है और जैन धर्म में केवलज्ञान कहा गया है। शब्द भिन्न हो सकते हैं लेकिन सभी का संकेत एक ही परम अनुभूति की ओर है।

आत्मानुभूति का अर्थ है अपने आप को पूर्णतः जान लेना। हम सभी अपने बारे में कुछ न कुछ जानते हैं। हम जानते हैं कि हमारा नाम क्या है, हम कहाँ रहते हैं, हमारा व्यवसाय क्या है आदि। लेकिन यह सब बाहरी पहचान है। आत्मानुभूति में हम अपने भीतरी सत्य को जानते हैं। हम जानते हैं कि हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है। यह ज्ञान बौद्धिक नहीं होता बल्कि अनुभवात्मक होता है। यह वैसे ही है जैसे मिठाई के बारे में पढ़ना और मिठाई को चखना। पढ़ने से हम केवल विवरण जान सकते हैं लेकिन चखने से हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

आत्मानुभूति की महत्ता अपार है। यह मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। सभी धर्म, सभी दर्शन और सभी योग मार्ग अंततः इसी लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। आत्मानुभूति के बिना जीवन अधूरा है। मनुष्य कितना भी धन संपत्ति, शक्ति या प्रसिद्धि प्राप्त कर ले, यदि उसे आत्मानुभूति नहीं है तो उसके जीवन में एक खालीपन बना रहता है। यह खालीपन केवल आत्मानुभूति से ही भरा जा सकता है। आत्मानुभूति व्यक्ति को पूर्ण तृप्ति और संतोष प्रदान करती है।

आत्मानुभूति का प्रथम महत्व यह है कि यह सभी दुखों का अंत कर देती है। सभी दुखों का मूल कारण अज्ञान है। जब व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता तो वह अनेक भ्रमों में फंसा रहता है। वह अपने को शरीर समझता है और शरीर के सुख-दुख में उलझा रहता है। वह अपने को मन समझता है और मन की चंचलता से परेशान रहता है। लेकिन जब आत्मानुभूति हो जाती है तो वह जान लेता है कि वह शरीर और मन से परे है। तब दुख उसे छू नहीं सकता क्योंकि दुख शरीर और मन का है, आत्मा का नहीं।

आत्मानुभूति का द्वितीय महत्व यह है कि यह परम आनंद प्रदान करती है। यह आनंद सांसारिक सुखों से सर्वथा भिन्न है। सांसारिक सुख क्षणिक हैं और उनके साथ दुख भी जुड़ा रहता है। लेकिन आत्मानुभूति का आनंद शाश्वत है और शुद्ध है। यह आनंद किसी बाहरी वस्तु पर निर्भर नहीं है। यह आत्मा का

स्वभाव है। उपनिषदों में कहा गया है कि जो आत्मा को जान लेता है वह सभी भय से मुक्त हो जाता है और परम आनंद को प्राप्त करता है। यह आनंद इतना गहरा और संपूर्ण है कि उसके सामने संसार के सभी सुख तुच्छ प्रतीत होते हैं।

आत्मानुभूति का तृतीय महत्व यह है कि यह व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करती है। अज्ञानी व्यक्ति अनेक बंधनों में जकड़ा रहता है। वह अपनी इच्छाओं का दास है, अपने भय का दास है, अपने क्रोध का दास है। वह परिस्थितियों का दास है और अन्य लोगों की राय का दास है। लेकिन आत्मानुभूति के बाद व्यक्ति सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है। वह जान लेता है कि उसका वास्तविक स्वरूप स्वतंत्र है। कोई भी शक्ति उसे बांध नहीं सकती। यह स्वतंत्रता केवल बाहरी नहीं है बल्कि भीतरी है जो कहीं अधिक मूल्यवान है।

आत्मानुभूति का चतुर्थ महत्व यह है कि यह व्यक्ति को सभी प्राणियों के साथ एकता का अनुभव कराती है। जब व्यक्ति जान लेता है कि सभी में एक ही आत्मा विद्यमान है तो उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। वह किसी से भी घृणा नहीं कर सकता क्योंकि दूसरे में वह अपने ही आत्मा को देखता है। वह सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा से भर जाता है। यह एकत्व का भाव व्यक्ति को महान बना देता है। महात्मा गांधी, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य जैसे महापुरुषों में यही एकत्व का भाव था जो उन्हें संपूर्ण मानवता की सेवा के लिए प्रेरित करता था।

आत्मानुभूति का पंचम महत्व यह है कि यह जीवन को सार्थकता प्रदान करती है। मनुष्य जन्म दुर्लभ माना गया है। इस जन्म का उद्देश्य केवल खाना-पीना और मौज-मस्ती करना नहीं है। जीवन का वास्तविक उद्देश्य आत्मज्ञान प्राप्त करना है। जो व्यक्ति इस जीवन में आत्मानुभूति प्राप्त कर लेता है वह कृतार्थ हो जाता है। उसका जन्म सफल हो जाता है। वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति जीवित रहते हुए भी मुक्त है। उसे जीवन्मुक्त कहा जाता है।

बोध प्रश्न—तुलनात्मक प्रश्न

1. ज्ञानयोग और भक्तियोग में समानताएं और असमानताएं बताइए।
 2. सांख्य दर्शन और योग दर्शन के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
 3. राग और द्वेष दोनों ही बंधन हैं। इस कथन की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।
 4. अविद्या और अहंकार में क्या संबंध है? दोनों की तुलना कीजिए।
 5. शरीर के तीन प्रकारों की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए।
-

3.8 आत्मानुभूति के साधन

आत्मानुभूति प्राप्त करना जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है लेकिन यह सहज नहीं है। इसके लिए दृढ़ संकल्प, निरंतर साधना और गुरु की कृपा की आवश्यकता होती है। भारतीय दर्शन और योग में आत्मानुभूति प्राप्त करने के विभिन्न साधन बताए गए हैं। ये साधन विभिन्न प्रकार के साधकों के लिए उपयुक्त हैं। कोई एक



साधन सभी के लिए उपयुक्त नहीं है इसलिए साधक को अपनी प्रकृति के अनुसार साधन का चयन करना चाहिए।

प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण साधन है श्रवण, मनन और निदिध्यासन। यह वेदांत का मार्ग है। श्रवण का अर्थ है गुरु से या शास्त्रों से आत्मा के स्वरूप के बारे में सुनना। केवल सुनना ही पर्याप्त नहीं है। सुनने के बाद उस पर गहन चिंतन करना आवश्यक है, यह मनन है। मनन में साधक तर्क और विवेक का प्रयोग करता है। वह जो सुना है उसकी सत्यता को परखता है। मनन के बाद निदिध्यासन होता है जिसमें साधक जो ज्ञान प्राप्त किया है उस पर निरंतर ध्यान करता है। यह तीनों मिलकर ज्ञान की पूर्णता लाते हैं।

द्वितीय साधन है ध्यान या मेडिटेशन। ध्यान योग का सातवां अंग है और आत्मानुभूति का प्रत्यक्ष मार्ग है। ध्यान में मन को एकाग्र करके आत्मा पर केंद्रित किया जाता है। प्रारंभ में मन बहुत चंचल होता है और बार-बार भटकता है। लेकिन निरंतर अभ्यास से मन स्थिर होने लगता है। जब मन पूर्णतः स्थिर हो जाता है तो आत्मा का प्रकाश स्वयं प्रकट होने लगता है। ध्यान के अनेक प्रकार हैं। कुछ लोग मंत्र जप के साथ ध्यान करते हैं, कुछ श्वास पर ध्यान देते हैं और कुछ किसी प्रतीक या देवता पर ध्यान करते हैं। सभी विधियां अंततः एक ही लक्ष्य की ओर ले जाती हैं।

तृतीय साधन है आत्म-विचार। यह रमण महर्षि द्वारा विशेष रूप से प्रतिपादित मार्ग है। इसमें साधक निरंतर यह प्रश्न पूछता है मैं कौन हूँ? यह प्रश्न केवल बौद्धिक जिज्ञासा नहीं है बल्कि गहन आत्म-अन्वेषण है। साधक अपने सभी बाहरी पहचानों को नकारता जाता है। मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं विचार नहीं हूँ, मैं भावनाएं नहीं हूँ। जब सब कुछ नकार दिया जाता है तो जो शेष रहता है वही वास्तविक आत्मा है। यह साधना अत्यंत गहन और प्रभावशाली है।

चतुर्थ साधन है भक्ति। भक्तिमार्ग में साधक ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण कर देता है। वह अपने को पूर्णतः ईश्वर को सौंप देता है और कहता है मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे हो। यह प्रेम और समर्पण इतना गहरा होता है कि भक्त और भगवान के बीच का भेद मिट जाता है। तब भक्त को आत्मानुभूति होती है। मीरा, चैतन्य महाप्रभु, तुकाराम जैसे महान भक्तों ने भक्ति के माध्यम से आत्मानुभूति प्राप्त की। भक्तिमार्ग हृदय प्रधान है और उन लोगों के लिए उपयुक्त है जिनका हृदय भावनाओं से भरा है।

पंचम साधन है कर्मयोग। इसमें साधक अपने सभी कर्मों को निष्काम भाव से करता है। वह फल की आसक्ति छोड़ देता है और केवल कर्तव्य पालन करता है। जब मनुष्य कर्म करता है लेकिन कर्मफल में लिप्त नहीं होता तो धीरे-धीरे उसका अहंकार क्षीण होता जाता है। जब अहंकार पूर्णतः नष्ट हो जाता है तो आत्मा का साक्षात्कार होता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कर्मयोग को विशेष महत्व दिया है। यह मार्ग गृहस्थों के लिए विशेष उपयुक्त है जो संसार में रहकर भी आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हैं।

षष्ठ साधन है गुरु की शरणागति। भारतीय परंपरा में गुरु का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। गुरु वह है जो अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाता है। आत्मज्ञान का मार्ग कठिन है और इसमें अनेक बाधाएं आती हैं। गुरु इन बाधाओं को पार करने में सहायता करता है। गुरु केवल ज्ञान ही नहीं देता बल्कि अपनी



आध्यात्मिक शक्ति से शिष्य को रूपांतरित भी करता है। कबीर, नानक, रामकृष्ण परमहंस जैसे संतों ने गुरु की महिमा का अत्यंत सुंदर वर्णन किया है। गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा और समर्पण आत्मानुभूति का महत्वपूर्ण साधन है।

सप्तम साधन है यम और नियम का पालन। योगसूत्र में यम और नियम को योग के प्रथम दो अंग बताया गया है। पांच यम हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। पांच नियम हैं शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। ये नैतिक और आध्यात्मिक नियम हैं जो साधक के चरित्र को शुद्ध करते हैं। जब चरित्र शुद्ध होता है तो मन भी शुद्ध होता है। शुद्ध मन में ही आत्मा का प्रतिबिंब स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यम और नियम का पालन सभी साधनाओं की नींव है।

अष्टम साधन है प्राणायाम। प्राण और मन का गहरा संबंध है। जब प्राण स्थिर होता है तो मन भी स्थिर होता है। प्राणायाम के अभ्यास से प्राण नियंत्रित होता है। जब प्राण पूर्णतः नियंत्रित हो जाता है तो मन की सभी चंचलताएं समाप्त हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में ध्यान सहज हो जाता है और आत्मसाक्षात्कार निकट आ जाता है। प्राणायाम केवल श्वास का व्यायाम नहीं है बल्कि यह प्राण शक्ति को जागृत करने की विधि है। कुंडलिनी योग में प्राणायाम को विशेष महत्व दिया गया है।

नवम साधन है सत्संग। सत्संग का अर्थ है सत्य की संगति अर्थात् संतों और ज्ञानियों की संगति। जब हम ज्ञानी व्यक्तियों के संपर्क में आते हैं तो उनकी आध्यात्मिक ऊर्जा हम पर प्रभाव डालती है। उनके शब्द, उनका व्यवहार, उनकी उपस्थिति मात्र हमें प्रेरित करती है। सत्संग में रहने से हमारे संस्कार बदलते हैं और हम आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। कबीर ने कहा है कबीर संगति साधु की, हरे और की व्याधि। संगति बुरी असाधु की, आठो पहर उपाधि।

दशम साधन है शास्त्र अध्ययन। गीता, उपनिषद, योगसूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि शास्त्रों में आत्मज्ञान का विस्तृत विवेचन है। इन शास्त्रों का नियमित अध्ययन और मनन साधक को मार्गदर्शन प्रदान करता है। शास्त्र हमें बताते हैं कि आत्मा क्या है, कैसे उसका साक्षात्कार किया जा सकता है और साधना में क्या-क्या बाधाएं आ सकती हैं। शास्त्राध्ययन से बुद्धि शुद्ध होती है और विवेक जागृत होता है। विवेक आत्मानुभूति का एक महत्वपूर्ण साधन है।

3.9 आत्मानुभूति की प्राप्ति में बाधाएं

आत्मानुभूति का मार्ग कठिन है और इस मार्ग में अनेक बाधाएं आती हैं। इन बाधाओं को समझना और उन्हें दूर करना आवश्यक है। योगसूत्र में पतंजलि ने साधना में आने वाली विभिन्न बाधाओं का उल्लेख किया है। ये बाधाएं बाहरी भी हो सकती हैं और भीतरी भी। भीतरी बाधाएं अधिक खतरनाक होती हैं क्योंकि उन्हें पहचानना कठिन होता है।

प्रथम और सबसे बड़ी बाधा है अज्ञान या अविद्या। अविद्या का अर्थ है वास्तविकता को न जानना। हम अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते और अपने को शरीर, मन या बुद्धि समझते हैं। यह मूलभूत भ्रम है जो सभी समस्याओं का कारण है। अविद्या के कारण ही हम संसार को वास्तविक मानते हैं और उसमें



फंसे रहते हैं। अविद्या दूर करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। सही ज्ञान अविद्या को नष्ट कर देता है जैसे प्रकाश अंधकार को नष्ट कर देता है।

द्वितीय बाधा है अस्मिता या अहंकार। अहंकार यह भाव है कि मैं कर्ता हूँ या यह मेरा है। अहंकार के कारण व्यक्ति अपने को दूसरों से अलग और श्रेष्ठ समझता है। यह भाव आत्मानुभूति में बहुत बड़ी बाधा है क्योंकि आत्मानुभूति में व्यक्ति जानता है कि सभी में एक ही आत्मा है। जब तक अहंकार है तब तक यह एकत्व का अनुभव नहीं हो सकता। अहंकार को नष्ट करने के लिए विनम्रता और समर्पण की आवश्यकता है। जब व्यक्ति अपने को ईश्वर या गुरु को पूर्णतः समर्पित कर देता है तो अहंकार स्वतः नष्ट हो जाता है।

तृतीय बाधा है राग या आसक्ति। राग का अर्थ है सुखद वस्तुओं या अनुभवों के प्रति आकर्षण। हम अपने प्रियजनों, धन, संपत्ति, शक्ति आदि से लिप्त रहते हैं। यह आसक्ति हमें बांधे रखती है। जब तक राग है तब तक मन शांत नहीं हो सकता। और जब तक मन शांत नहीं है तब तक आत्मानुभूति संभव नहीं है। राग को दूर करने के लिए वैराग्य की आवश्यकता है। वैराग्य का अर्थ यह नहीं है कि हम सब कुछ छोड़ दें। वैराग्य का अर्थ है आसक्ति छोड़ना न कि वस्तुओं को। हम वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं लेकिन उनसे लिप्त नहीं होना चाहिए।

चतुर्थ बाधा है द्वेष या घृणा। द्वेष का अर्थ है दुखद वस्तुओं या अनुभवों के प्रति विकर्षण। जब हमें कोई दुख देता है तो हम उससे घृणा करने लगते हैं। यह घृणा मन में विष की तरह फैलती है और शांति को नष्ट कर देती है। द्वेष राग का विपरीत है लेकिन दोनों ही बंधन हैं। राग सुख में बांधता है और द्वेष दुख में बांधता है। दोनों से मुक्त होना आवश्यक है। द्वेष को दूर करने के लिए क्षमा और करुणा का भाव विकसित करना चाहिए। जब हम समझ लेते हैं कि जो व्यक्ति हमें दुख देता है वह भी अज्ञान में है तो हम उससे घृणा नहीं करते बल्कि करुणा करते हैं।

पंचम बाधा है अभिनिवेश या मृत्यु का भय। यह सबसे सूक्ष्म और गहरी बाधा है। प्रत्येक प्राणी में मृत्यु का भय जन्मजात होता है। यह भय अचेतन मन में छिपा रहता है। मृत्यु के भय के कारण व्यक्ति जीवन से चिपका रहता है और मोक्ष से डरता है। लेकिन जब व्यक्ति जान लेता है कि आत्मा अमर है और मृत्यु केवल शरीर की है तो यह भय समाप्त हो जाता है। आत्मज्ञान ही मृत्यु के भय को दूर कर सकता है।

षष्ठ बाधा है विक्षेप या मन की चंचलता। मन स्वभाव से चंचल है। यह एक विषय से दूसरे विषय पर भागता रहता है। इस चंचलता के कारण मन को एकाग्र करना कठिन होता है। जब तक मन एकाग्र नहीं होता तब तक ध्यान संभव नहीं है। विक्षेप को दूर करने के लिए अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता है। निरंतर अभ्यास से धीरे-धीरे मन स्थिर होने लगता है।

सप्तम बाधा है आलस्य और प्रमाद। बहुत से साधक प्रारंभ में बहुत उत्साह से साधना करते हैं लेकिन धीरे-धीरे आलस्य आ जाता है। वे नियमित साधना नहीं कर पाते। कभी-कभी प्रमाद भी होता है अर्थात् लापरवाही। साधक यह सोचने लगता है कि आज छोड़ देते हैं, कल कर लेंगे। यह आज छोड़ना कल



तक फैलता जाता है और अंततः साधना बंद हो जाती है। आलस्य और प्रमाद से बचने के लिए दृढ़ संकल्प और नियमितता आवश्यक है।

अष्टम बाधा है संदेह। कुछ साधकों को साधना में संदेह होने लगता है। वे सोचते हैं कि क्या वास्तव में आत्मा है? क्या आत्मानुभूति संभव है? क्या मैं इसे प्राप्त कर सकता हूँ? ये संदेह साधना में बहुत बड़ी बाधा हैं। संदेह के कारण साधक की श्रद्धा कमजोर हो जाती है और साधना में प्रगति रुक जाती है। संदेह को दूर करने के लिए शास्त्र अध्ययन, सत्संग और गुरु का मार्गदर्शन आवश्यक है। जब साधक को सही ज्ञान मिलता है तो संदेह स्वतः दूर हो जाते हैं।

नवम बाधा है अभ्रांति अर्थात् भ्रमपूर्ण धारणा। कभी-कभी साधक को कुछ अनुभव होते हैं और वह समझने लगता है कि उसे आत्मानुभूति हो गई है। लेकिन वास्तव में वे केवल मानसिक अनुभव होते हैं। यह अभ्रांति साधना में बहुत खतरनाक है क्योंकि साधक आगे बढ़ना बंद कर देता है। इस बाधा से बचने के लिए गुरु का मार्गदर्शन अत्यंत आवश्यक है। गुरु साधक को बता सकता है कि उसका अनुभव वास्तविक है या भ्रम।

दशम बाधा है अनवस्थितत्व अर्थात् स्थिरता का अभाव। कभी-कभी साधक को उच्च अवस्था की झलक मिलती है लेकिन वह उसमें स्थिर नहीं रह पाता। वह फिर से सामान्य अवस्था में आ जाता है। यह निराशाजनक हो सकता है। लेकिन साधक को निराश नहीं होना चाहिए। निरंतर अभ्यास से धीरे-धीरे स्थिरता आने लगती है। धैर्य और दृढ़ता से सभी बाधाओं को पार किया जा सकता है।

बोध प्रश्न

1. दैनिक जीवन में योग के सिद्धांतों को किस प्रकार लागू किया जा सकता है? व्यावहारिक सुझाव दीजिए।
2. एक विद्यार्थी अपने जीवन में आत्मानुभूति की दिशा में किस प्रकार कदम बढ़ा सकता है?
3. आधुनिक तनावपूर्ण जीवन में समत्व का भाव किस प्रकार विकसित किया जा सकता है?
4. साधना में आने वाली बाधाओं को दूर करने के व्यावहारिक उपाय सुझाइए।
5. ध्यान का अभ्यास प्रारंभ करने के लिए क्या-क्या सावधानियां आवश्यक हैं?

3.10 आत्मानुभूति और जीवन में इसका प्रभाव

आत्मानुभूति केवल एक आध्यात्मिक अनुभव नहीं है बल्कि यह व्यक्ति के संपूर्ण जीवन को रूपांतरित कर देती है। जिस व्यक्ति को आत्मानुभूति हो जाती है उसका जीवन पहले जैसा नहीं रहता। उसकी सोच, उसका व्यवहार, उसके संबंध सब कुछ बदल जाते हैं। वह एक नए व्यक्तित्व के रूप में उभरता है जो प्रेम, शांति और आनंद से परिपूर्ण होता है।

आत्मानुभूति का सबसे पहला प्रभाव है अहंकार का विनाश। जब व्यक्ति जान लेता है कि वह शुद्ध आत्मा है तो उसका अहंकार समाप्त हो जाता है। वह अपने को न तो महान समझता है न तुच्छ। वह न किसी से ऊंचा है न नीचा। सभी में एक ही आत्मा है यह जानकर उसमें अद्भुत विनम्रता आ जाती है। ऐसा



व्यक्ति सरल और सहज होता है। उसमें दिखावा या अहंकार नहीं होता। रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि जैसे महान संत अत्यंत सरल और विनम्र थे।

द्वितीय प्रभाव है भय का अभाव। जब व्यक्ति जान लेता है कि आत्मा अमर है तो उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। और जब मृत्यु का भय नहीं रहता तो अन्य कोई भय नहीं रहता। उपनिषद् में कहा गया है अभयं वै ब्रह्म अर्थात् ब्रह्म भयरहित है। जो ब्रह्म को जान लेता है वह भी भयरहित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति निडरता से जीवन जीता है। वह किसी से डरता नहीं और न ही किसी को डराता है।

तृतीय प्रभाव है सुख-दुख में समत्व। आत्मज्ञानी व्यक्ति जानता है कि सुख और दुख केवल मन की अवस्थाएं हैं। आत्मा सुख-दुख से परे है। इसलिए वह सुख में प्रसन्न नहीं होता और दुख में व्याकुल नहीं होता। वह समान भाव से सभी परिस्थितियों को स्वीकार करता है। गीता में ऐसे व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। यह समत्व उसे अपार शांति प्रदान करता है।

चतुर्थ प्रभाव है सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा। जब व्यक्ति सभी में एक ही आत्मा को देखता है तो स्वाभाविक रूप से सभी के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। यह प्रेम किसी विशेष व्यक्ति तक सीमित नहीं होता बल्कि सार्वभौमिक होता है। ऐसा व्यक्ति किसी से घृणा नहीं कर सकता। वह सभी के दुख को अपना दुख समझता है और सभी की सेवा करने को तत्पर रहता है। बुद्ध, महावीर, ईसा मसीह जैसे महापुरुषों में यही सार्वभौमिक प्रेम था।

पंचम प्रभाव है संसार के प्रति वैराग्य का भाव। यहां वैराग्य का अर्थ उपेक्षा नहीं है। आत्मज्ञानी व्यक्ति संसार में रहता है, कर्म करता है लेकिन लिप्त नहीं होता। वह जानता है कि संसार मिथ्या है और केवल आत्मा ही सत्य है। इसलिए वह संसार की वस्तुओं में आसक्त नहीं होता। वह उनका उपयोग करता है लेकिन उन पर निर्भर नहीं होता। कमल का पत्ता जल में रहता है लेकिन भीगता नहीं, ऐसे ही आत्मज्ञानी संसार में रहता है लेकिन संसार से प्रभावित नहीं होता।

षष्ठ प्रभाव है आंतरिक शांति और आनंद। आत्मानुभूति के बाद व्यक्ति को गहन शांति का अनुभव होता है। यह शांति बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं है। चाहे बाहर तूफान हो या शांति, भीतर सदा शांति रहती है। इसके साथ ही निरंतर आनंद की अनुभूति होती है। यह आनंद किसी कारण पर आधारित नहीं है। यह आत्मा का स्वभाव है। ऐसा व्यक्ति सदा प्रसन्न रहता है।

सप्तम प्रभाव है जीवन की सार्थकता का अनुभव। जब व्यक्ति को आत्मानुभूति हो जाती है तो उसे लगता है कि जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो गया। अब कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा। वह कृतार्थ हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहा जाता है अर्थात् जीवित रहते हुए भी मुक्त। वह संसार में रहता है लेकिन संसार का नहीं रहता। वह देह धारी है लेकिन देह से परे है।

अष्टम प्रभाव है दूसरों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनना। आत्मज्ञानी व्यक्ति स्वयं कुछ विशेष प्रयास नहीं करता लेकिन उसका जीवन दूसरों के लिए प्रेरणा बन जाता है। उसका व्यक्तित्व इतना तेजस्वी और शांत होता है कि लोग स्वतः उसकी ओर आकर्षित होते हैं। उसके संपर्क में आने से लोगों का जीवन बदलने लगता है। ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति मात्र से वातावरण में पवित्रता और शांति का संचार हो जाता है।



नवम प्रभाव है स्वतंत्रता और मुक्ति का अनुभव। आत्मज्ञानी व्यक्ति सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है। वह इच्छाओं का दास नहीं रहता, भय का दास नहीं रहता, समाज के नियमों का अंधा अनुसरण नहीं करता। वह पूर्ण स्वतंत्र है। लेकिन यह स्वतंत्रता उच्छृंखलता नहीं है। यह उच्चतम नैतिकता से युक्त स्वतंत्रता है। वह कुछ भी गलत नहीं करता क्योंकि उसका स्वभाव ही पवित्र हो गया है।

दशम प्रभाव है कर्म में कुशलता। जब व्यक्ति आत्मा में स्थित होता है तो उसके सभी कर्म अधिक कुशलता से होते हैं। उसका मन एकाग्र होता है इसलिए वह जो भी करता है पूर्ण निष्ठा से करता है। उसके कर्मों में सहजता और स्वाभाविकता होती है। वह बिना किसी तनाव के कर्म करता है। गीता में इसे ही योगः कर्मसु कौशलम् कहा गया है। आत्मज्ञानी व्यक्ति सामान्य कार्यों को भी असाधारण रूप से करता है क्योंकि उसके सभी कार्य प्रेम और श्रद्धा से युक्त होते हैं।

सारांश

इस इकाई में हमने योग की परिभाषा, आत्मा के स्वरूप और आत्मानुभूति की महत्ता का गहन अध्ययन किया। योग केवल शारीरिक व्यायाम नहीं है बल्कि यह संपूर्ण जीवन पद्धति है जो मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित कराती है। पतंजलि के अनुसार योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है। गीता में योग को कर्मों में कुशलता और समत्व के रूप में परिभाषित किया गया है।

योग के चार मुख्य मार्ग हैं – कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग और राजयोग। प्रत्येक मार्ग विभिन्न प्रकार के साधकों के लिए उपयुक्त है लेकिन सभी एक ही लक्ष्य अर्थात् आत्मसाक्षात्कार की ओर ले जाते हैं। योग दर्शन सांख्य दर्शन से जुड़ा है और इसमें पुरुष, प्रकृति और ईश्वर को मूल तत्व माना गया है।

आत्मा शुद्ध चेतना है जो नित्य, अविनाशी, आनंदस्वरूप और सर्वव्यापी है। आत्मा शरीर और मन से पूर्णतः भिन्न है। शरीर तीन प्रकार का होता है – स्थूल, सूक्ष्म और कारण। आत्मा इन सभी से परे है। आत्मा की विशेषताओं को समझना आत्मज्ञान की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है।

आत्मानुभूति मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। यह केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव है। आत्मानुभूति सभी दुखों का अंत कर देती है, परम आनंद प्रदान करती है और पूर्ण स्वतंत्रता देती है। इसे प्राप्त करने के विभिन्न साधन हैं जैसे श्रवण-मनन-निदिध्यासन, ध्यान, आत्म-विचार, भक्ति, कर्मयोग आदि।

साधना के मार्ग में अनेक बाधाएं आती हैं जिनमें मुख्य हैं अविद्या, अहंकार, राग, द्वेष और मृत्यु का भय। इन बाधाओं को पार करने के लिए दृढ़ संकल्प, निरंतर अभ्यास और गुरु की कृपा आवश्यक है।

आत्मानुभूति जीवन को पूर्णतः रूपांतरित कर देती है। यह अहंकार को नष्ट करती है, भय समाप्त करती है, समत्व का भाव लाती है, सार्वभौमिक प्रेम उत्पन्न करती है और जीवन को सार्थकता प्रदान करती है। आत्मज्ञानी व्यक्ति जीवन्मुक्त होता है जो संसार में रहते हुए भी संसार से परे होता है।



योग और आत्मज्ञान केवल प्राचीन विषय नहीं हैं बल्कि आधुनिक जीवन में भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। आज के तनावपूर्ण और भागदौड़ भरे जीवन में योग और आत्मज्ञान शांति, संतुलन और अर्थपूर्णता प्रदान कर सकते हैं।

यह इकाई विद्यार्थियों को योग और आत्मा की मूलभूत समझ प्रदान करने के उद्देश्य से तैयार की गई है। गहन अध्ययन के लिए मूल ग्रंथों और व्याख्या ग्रंथों का अध्ययन अनिवार्य है।

3.11 बोध प्रश्न

1. योग भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है इस कथन की विस्तार से व्याख्या कीजिए और आधुनिक जीवन में योग की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालिए।
2. आत्मा के स्वरूप और विशेषताओं का विस्तृत वर्णन करते हुए यह समझाइए कि आत्मा किस प्रकार शरीर और मन से भिन्न है।
3. आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधनों और उनमें आने वाली बाधाओं का समग्र विवेचन कीजिए।
4. योग दर्शन का मनोविज्ञान अत्यंत विकसित है। चित्त की वृत्तियों और उनके निरोध का विस्तार से वर्णन कीजिए।
5. आत्मानुभूति व्यक्ति के जीवन को पूर्णतः बदल देती है। इस कथन को विस्तार से स्पष्ट करते हुए आत्मज्ञानी व्यक्ति के लक्षणों का वर्णन कीजिए।
6. आधुनिक मनोविज्ञान और योग के मनोविज्ञान में क्या समानताएं हैं? विश्लेषण कीजिए।
7. आत्मानुभूति और मानसिक स्वास्थ्य के बीच क्या संबंध है? विस्तार से विवेचना कीजिए।
8. यम और नियम का पालन किस प्रकार व्यक्तित्व विकास में सहायक है? विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।
9. आत्मा का ज्ञान सभी समस्याओं का समाधान है इस कथन का विश्लेषण कीजिए।
10. आत्मानुभूति प्राप्त व्यक्ति का सामाजिक जीवन किस प्रकार प्रभावित होता है? गहन विश्लेषण कीजिए।
11. स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर में क्या अंतर है?
12. आत्मानुभूति का क्या अर्थ है?
13. ध्यान किस प्रकार आत्मानुभूति में सहायक है?
14. अविद्या क्या है और यह साधना में कैसे बाधा डालती है?
15. राग और द्वेष किस प्रकार आत्मज्ञान में बाधक हैं?

संदर्भ ग्रंथ सूची

- व्यासभाष्य
- शंकराचार्य की गीता भाष्य

- स्वामी विवेकानन्द राजयोग
- स्वामी शिवानन्द योग और आत्मज्ञान
- योग दर्शन डॉ राधाकृष्णन
- भारतीय दर्शन डॉ हरिशंकर पाठक
- योग और जीवन स्वामी रामदेव



द्वितीय खण्ड-उपनिषद ब्रह्म विद्या और ध्यान

खण्ड परिचय

द्वितीय खण्ड में उपनिषद ब्रह्म विद्या और ध्यान की शिक्षा को विस्तार से समझाते हैं। इस खण्ड की सभी इकाइयाँ मिलकर हमें जीवन, ब्रह्मांड और आत्मा के गहरे रहस्यों की ओर ले जाती हैं। सबसे पहले इसमें प्राण की महत्ता बताई गई है। प्राण को जीवन का आधार माना गया है, जो शरीर और मन को शक्ति प्रदान करता है। उपनिषद बताते हैं कि प्राण के बिना कोई भी क्रिया संभव नहीं है और यह सम्पूर्ण अस्तित्व को संचालित करता है। इसके बाद ब्रह्म की अवधारणा आती है। ब्रह्म को परम सत्य, अनंत और सर्वव्यापी शक्ति के रूप में समझाया गया है। यह सृष्टि का मूल है और आत्मा का अंतिम लक्ष्य ब्रह्म से एकत्व प्राप्त करना है।

फिर ध्यान की शिक्षा दी गई है। ध्यान को आत्मा और ब्रह्म के मिलन का मार्ग बताया गया है। उपनिषद कहते हैं कि ध्यान के माध्यम से मन की चंचलता शांत होती है और साधक अपने भीतर छिपे सत्य को अनुभव कर सकता है। अंत में चेतना की अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय – ये चार अवस्थाएँ मनुष्य की चेतना को समझने का आधार हैं। तुरीय अवस्था को सर्वोच्च माना गया है, जहाँ साधक आत्मा और ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

इस प्रकार द्वितीय खण्ड की सभी इकाइयाँ मिलकर हमें यह शिक्षा देती हैं कि प्राण, ब्रह्म, ध्यान और चेतना की समझ से हम अपने भीतर छिपे अनंत ज्ञान और शांति को अनुभव कर सकते हैं। यह खण्ड साधक को आत्मिक उन्नति और परम सत्य की ओर अग्रसर करता है।



इकाई संरचना

4.1 प्रश्नोपनिषद् का परिचय

- 4.1.1 नाम और स्थान
- 4.1.2 उपनिषद् की संरचना
- 4.1.3 महत्व और विशेषताएं

4.2 प्राण की अवधारणा

- 4.2.1 प्राण का स्वरूप
- 4.2.2 प्राण की सर्वोच्चता
- 4.2.3 प्राण और जीवन

4.3 रयि की अवधारणा

- 4.3.1 रयि का अर्थ और स्वरूप
- 4.3.2 प्राण और रयि का संबंध
- 4.3.3 सृष्टि में रयि की भूमिका

4.4 पंचप्राण

- 4.4.1 प्राण
- 4.4.2 अपान
- 4.4.3 व्यान
- 4.4.4 उदान
- 4.4.5 समान

4.5 प्रश्नोपनिषद् के छः प्रमुख प्रश्न

- 4.5.1 प्रथम प्रश्न – सृष्टि की उत्पत्ति
- 4.5.2 द्वितीय प्रश्न – देवताओं की श्रेष्ठता
- 4.5.3 तृतीय प्रश्न – प्राण की उत्पत्ति और व्यापन
- 4.5.4 चतुर्थ प्रश्न – स्वप्न और सुषुप्ति
- 4.5.5 पंचम प्रश्न – ओंकार की उपासना
- 4.5.6 षष्ठ प्रश्न – षोडशकला पुरुष

4.6 बोध प्रश्न

4.1 प्रश्नोपनिषद् का परिचय

4.1.1 नाम और स्थान

प्रश्नोपनिषद् भारतीय दर्शन और अध्यात्म के महत्वपूर्ण ग्रंथों में से एक है। यह उपनिषद् अथर्ववेद से संबंधित है और इसे अथर्ववेदीय उपनिषदों में गिना जाता है। इस उपनिषद् का नाम प्रश्न शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है प्रश्न या जिज्ञासा। इस उपनिषद् में छः महत्वपूर्ण प्रश्नों के माध्यम से जीवन, सृष्टि, प्राण और परमात्मा के गूढ़ रहस्यों को उजागर किया गया है। प्राचीन काल से ही यह उपनिषद् ज्ञान-पिपासुओं और साधकों के लिए मार्गदर्शक रहा है।

प्रश्नोपनिषद् की रचना का समय वैदिक काल के उत्तरार्ध में माना जाता है। इसमें वर्णित शिक्षाएं और दार्शनिक सिद्धांत भारतीय चिंतन परंपरा की गहनता को प्रदर्शित करते हैं। यह उपनिषद् अपने सरल और स्पष्ट शैली के कारण विशेष रूप से लोकप्रिय है। इसमें जटिल दार्शनिक विषयों को संवाद शैली में प्रस्तुत किया गया है जो पाठकों को सहजता से समझ में आ जाते हैं। प्रश्नोपनिषद् का अध्ययन करने से मनुष्य को जीवन के मूलभूत सत्यों का बोध होता है और वह अपने अस्तित्व के वास्तविक उद्देश्य को समझ पाता है।

4.1.2 उपनिषद् की संरचना

प्रश्नोपनिषद् की संरचना अत्यंत सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध है। इस उपनिषद् में कुल छः प्रश्न हैं और प्रत्येक प्रश्न एक अलग अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक प्रश्न एक जिज्ञासु शिष्य द्वारा पूछा जाता है और महान ऋषि पिप्पलाद उन प्रश्नों के उत्तर देते हैं। यह संवाद शैली उपनिषद् की एक विशेष विशेषता है जो इसे अन्य उपनिषदों से अलग बनाती है। छः जिज्ञासु शिष्य अलग-अलग विषयों पर अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं और ऋषि पिप्पलाद उन्हें गहन ज्ञान प्रदान करते हैं।

पहले प्रश्न में महर्षि कात्यायन सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में पूछते हैं। दूसरे प्रश्न में भार्गव वैदर्भि देवताओं की श्रेष्ठता के विषय में जानना चाहते हैं। तीसरे प्रश्न में कौशल्य आश्वलायन प्राण की उत्पत्ति और उसके व्यापकता के बारे में प्रश्न करते हैं। चौथे प्रश्न में सौर्यायणी गार्ग्य स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था के रहस्य को समझना चाहते हैं। पांचवें प्रश्न में महर्षि सत्यकाम ओंकार की उपासना की महिमा जानने की इच्छा रखते हैं। छठे प्रश्न में सुकेश भारद्वाज षोडशकलापुरुष के विषय में जिज्ञासा प्रकट करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रश्न एक विशेष आध्यात्मिक विषय को समर्पित है और उपनिषद् की संरचना इस तरह से बनाई गई है कि पाठक क्रमशः गहन ज्ञान की ओर अग्रसर होता है।

4.1.3 महत्व और विशेषताएं

प्रश्नोपनिषद् का भारतीय दर्शन में विशेष महत्व है क्योंकि यह प्राण विद्या का सर्वोत्तम ग्रंथ माना जाता है। प्राण के विषय में जितनी गहन और विस्तृत जानकारी इस उपनिषद् में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

यह उपनिषद् केवल दार्शनिक सिद्धांतों तक सीमित नहीं है बल्कि यह व्यावहारिक जीवन में भी उपयोगी है। इसमें बताए गए प्राण और पंचप्राण के सिद्धांत योग साधना और प्राणायाम के लिए आधारभूत ज्ञान प्रदान करते हैं। आधुनिक समय में जब स्वास्थ्य और मानसिक शांति की खोज बढ़ रही है तब यह उपनिषद् और भी अधिक प्रासंगिक हो गया है।

इस उपनिषद् की सबसे बड़ी विशेषता इसकी सरलता और स्पष्टता है। जटिल दार्शनिक विषयों को इतने सहज तरीके से समझाया गया है कि साधारण पाठक भी इसे समझ सकता है। प्रश्नोत्तर शैली में लिखा होने के कारण यह उपनिषद् पठनीय और रोचक बन गया है। इसमें प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में गहन ज्ञान छिपा हुआ है जो धीरे-धीरे पाठक के सामने प्रकट होता है। इसके अलावा यह उपनिषद् प्राण और रयि की अवधारणा प्रस्तुत करके सृष्टि के दोहरे स्वरूप को समझाता है। प्राण चेतना का प्रतीक है और रयि जड़ पदार्थ का। दोनों के समन्वय से ही सृष्टि का संचालन होता है। यह द्वैतवादी दृष्टिकोण बाद के भारतीय दर्शन को गहराई से प्रभावित करता है।

4.2 प्राण की अवधारणा

4.2.1 प्राण का स्वरूप

प्राण शब्द का अर्थ केवल श्वास या सांस नहीं है बल्कि यह जीवन शक्ति का प्रतीक है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण को सर्वव्यापी चैतन्य शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो समस्त सृष्टि को जीवन प्रदान करती है। प्राण वह तत्व है जो निर्जीव को सजीव बनाता है और जिसके बिना कोई भी जीव अस्तित्व में नहीं रह सकता। यह केवल मनुष्यों में ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियों, वृक्षों और सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त है। प्राण को ब्रह्म का ही एक रूप माना जाता है जो सृष्टि में प्रवेश करके उसे गतिमान बनाता है।

उपनिषद् के अनुसार प्राण ही वह मूल शक्ति है जो शरीर के समस्त कार्यों को संचालित करती है। हृदय की धड़कन, श्वास का आना-जाना, रक्त का संचार, पाचन क्रिया और समस्त इंद्रियों की गतिविधियां प्राण के कारण ही संभव होती हैं। प्राण को आत्मा और शरीर के बीच की कड़ी भी माना जा सकता है। आत्मा अमर और शाश्वत है जबकि शरीर नश्वर है। प्राण इन दोनों को जोड़ता है और जब तक प्राण शरीर में रहता है तब तक आत्मा का शरीर के साथ संबंध बना रहता है। मृत्यु के समय जब प्राण शरीर छोड़ देता है तो आत्मा भी शरीर से अलग हो जाती है। इस प्रकार प्राण जीवन का आधार है और इसके बिना न तो शरीर काम कर सकता है और न ही आत्मा शरीर में रह सकती है।

4.2.2 प्राण की सर्वोच्चता

प्रश्नोपनिषद् में प्राण को सभी इंद्रियों और देवताओं से श्रेष्ठ बताया गया है। इस उपनिषद् में एक कथा आती है जिसमें विभिन्न इंद्रियां अपनी-अपनी श्रेष्ठता का दावा करती हैं। वाणी कहती है कि मैं सबसे महत्वपूर्ण हूं क्योंकि मेरे बिना संचार असंभव है। चक्षु कहता है कि मैं श्रेष्ठ हूं क्योंकि मैं संसार को देखने की शक्ति प्रदान करता हूं। श्रोत्र कहता है कि मैं सुनने की क्षमता देता हूं इसलिए मैं महत्वपूर्ण हूं। मन



भी अपनी श्रेष्ठता का दावा करता है। लेकिन प्राण कहता है कि तुम सब मेरे कारण ही कार्य कर पाते हो। मेरे बिना तुम सभी निष्क्रिय हो जाओगे।

इसे सिद्ध करने के लिए प्राण एक बार शरीर छोड़ने का निर्णय लेता है। जब प्राण शरीर छोड़ने लगता है तो सभी इंद्रियां और देवता भी शरीर छोड़ने लगते हैं। सभी को यह अनुभव होता है कि प्राण के बिना उनका कोई अस्तित्व नहीं है। तब सभी इंद्रियां और देवता प्राण से क्षमा मांगते हैं और उसकी सर्वोच्चता को स्वीकार करते हैं। प्राण फिर से शरीर में लौट आता है और सभी इंद्रियां पुनः सक्रिय हो जाती हैं। यह कथा प्राण की महत्ता को बहुत सुंदर तरीके से प्रस्तुत करती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे कितनी भी शक्तिशाली इंद्रिय या देवता हो, प्राण के बिना वे सभी निरर्थक हैं। प्राण ही जीवन का मूल आधार है और यही सर्वोच्च शक्ति है।

4.2.3 प्राण और जीवन

प्राण और जीवन का संबंध अटूट है। जहां प्राण है वहीं जीवन है और जहां प्राण नहीं है वहां मृत्यु है। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार प्राण केवल शारीरिक क्रिया नहीं है बल्कि यह चेतना का वाहक है। यह वह शक्ति है जो जड़ पदार्थ को चेतन बनाती है। शरीर पंचभौतिक तत्वों से बना है लेकिन प्राण के प्रवेश से यह जीवंत हो उठता है। प्राण के कारण ही मनुष्य सोचता है, महसूस करता है, कार्य करता है और अनुभव करता है। प्राण के बिना शरीर मात्र पंचभौतिक तत्वों का समूह है जिसमें कोई चेतना नहीं है। जीवन की गुणवत्ता भी प्राण की स्थिति पर निर्भर करती है। जब प्राण संतुलित और स्वस्थ होता है तो मनुष्य स्वस्थ, ऊर्जावान और प्रसन्न रहता है। जब प्राण असंतुलित हो जाता है तो शारीरिक और मानसिक बीमारियां उत्पन्न होती हैं। योग और प्राणायाम का मूल उद्देश्य प्राण को नियंत्रित और संतुलित करना है। प्राणायाम के द्वारा साधक प्राण की गति को नियमित करता है जिससे शरीर और मन दोनों स्वस्थ रहते हैं। प्रश्नोपनिषद् यह भी बताता है कि प्राण की साधना से मनुष्य दीर्घायु प्राप्त कर सकता है और अंततः मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है।

4.3 रयि की अवधारणा

4.3.1 रयि का अर्थ और स्वरूप

रयि शब्द का अर्थ पदार्थ, धन, संपत्ति या जड़ तत्व है। प्रश्नोपनिषद् में रयि को प्राण के विपरीत तत्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जहां प्राण चेतना का प्रतीक है वहीं रयि जड़ता का प्रतीक है। रयि में वे सभी तत्व आते हैं जो निर्जीव हैं जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और इन तत्वों से बने समस्त पदार्थ। हमारा शरीर भी रयि का ही एक रूप है क्योंकि यह पंचमहाभूतों से बना है। रयि वह भौतिक आधार है जिस पर प्राण कार्य करता है। बिना रयि के प्राण की अभिव्यक्ति संभव नहीं है और बिना प्राण के रयि निष्क्रिय और निर्जीव है।

रयि का स्वरूप परिवर्तनशील है। यह निरंतर रूपांतरित होता रहता है। भोजन रयि का एक रूप है जो शरीर में प्रवेश करके रक्त, मांस और अस्थि में परिवर्तित होता है। शरीर के समस्त अंग और उनकी

संरचना रयि के ही विभिन्न रूप हैं। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि रयि अन्न से उत्पन्न होती है। अन्न पृथ्वी से उत्पन्न होता है और पृथ्वी पंचभूतों का सम्मिश्रण है। इस प्रकार रयि भौतिक सृष्टि की आधारशिला है। यह वह माध्यम है जिसके द्वारा चेतना अपनी अभिव्यक्ति करती है। मानव शरीर में प्राण और रयि का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है जहां चेतन तत्व और जड़ तत्व मिलकर जीवन की सृष्टि करते हैं।

4.3.2 प्राण और रयि का संबंध

प्राण और रयि का संबंध पुरुष और प्रकृति के संबंध जैसा है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों के समन्वय से ही सृष्टि का संचालन होता है। प्राण चेतन है लेकिन उसे प्रकट होने के लिए रयि की आवश्यकता होती है। रयि जड़ है लेकिन प्राण के संयोग से यह सजीव और सक्रिय हो जाती है। यह संबंध ठीक वैसा ही है जैसे विद्युत और बल्ब का संबंध। विद्युत अदृश्य ऊर्जा है और बल्ब भौतिक वस्तु है। जब विद्युत बल्ब में प्रवेश करती है तो प्रकाश उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जब प्राण रयि में प्रवेश करता है तो जीवन का प्रकाश उत्पन्न होता है।

प्रश्नोपनिषद् में इस संबंध को बहुत सुंदर उदाहरण से समझाया गया है। वर्षा ऋतु में जब बीज जमीन में पड़े होते हैं तो वे निष्क्रिय रहते हैं। यह बीज रयि का प्रतीक है। जब वर्षा होती है और पृथ्वी नम हो जाती है तो बीज में अंकुर फूटने लगते हैं। यह अंकुरण प्राण का प्रतीक है। बीज में पहले से ही जीवन की संभावना विद्यमान थी लेकिन वह निष्क्रिय थी। जल और वायु के संपर्क से वह सक्रिय हो गई। इसी प्रकार रयि में भी जीवन की संभावना होती है लेकिन प्राण के बिना वह प्रकट नहीं हो सकती। जब प्राण और रयि का मिलन होता है तो सृष्टि का विकास होता है। यह संबंध न केवल शारीरिक स्तर पर है बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर भी है। मन और बुद्धि भी प्राण और रयि के समन्वय से ही कार्य करते हैं।

4.3.3 सृष्टि में रयि की भूमिका

सृष्टि के निर्माण और संचालन में रयि की महत्वपूर्ण भूमिका है। रयि वह भौतिक आधार है जिस पर संपूर्ण सृष्टि टिकी हुई है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश जो पंचमहाभूत हैं वे सभी रयि के रूप हैं। इन्हीं तत्वों से समस्त ब्रह्मांड बना है। सूर्य, चंद्रमा, तारे, ग्रह, पर्वत, नदियां और समस्त प्राकृतिक संरचनाएं रयि की ही अभिव्यक्तियां हैं। रयि के बिना सृष्टि का कोई भौतिक आधार नहीं हो सकता। प्राण चाहे कितना भी शक्तिशाली हो, बिना रयि के उसकी अभिव्यक्ति असंभव है।

प्रश्नोपनिषद् में बताया गया है कि प्रजापति ने सृष्टि की रचना करते समय प्राण और रयि दोनों की सृष्टि की। प्राण को पुरुष तत्व माना गया और रयि को स्त्री तत्व। दोनों के संयोग से ही प्रजा की उत्पत्ति होती है। यह केवल रूपक नहीं है बल्कि गहरा दार्शनिक सत्य है। सृष्टि में हर जगह यह द्वैत दिखाई देता है। दिन और रात, गर्मी और सर्दी, प्रकाश और अंधकार, जीवन और मृत्यु सभी इसी द्वैत के उदाहरण हैं। रयि इस द्वैत का भौतिक पक्ष है जो परिवर्तनशील और नश्वर है। लेकिन इसके बिना सृष्टि का खेल चल नहीं सकता। रयि की भूमिका न केवल शरीर की रचना में है बल्कि संपूर्ण भौतिक जगत की रचना और पोषण



में है। भोजन रयि का रूप है जो शरीर को पोषण देता है। औषधियां रयि का रूप हैं जो रोगों को दूर करती हैं। आवास, वस्त्र और सभी भौतिक सुविधाएं रयि की ही देन हैं।

बोध प्रश्न—(वस्तुनिष्ठ)

1. प्रश्नोपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
 - (क) ऋग्वेद
 - (ख) यजुर्वेद
 - (ग) सामवेद
 - (घ) अथर्ववेद
2. प्रश्नोपनिषद् में कितने मुख्य प्रश्न हैं?
 - (क) चार
 - (ख) पाँच
 - (ग) छः
 - (घ) सात
3. प्रश्नोपनिषद् में प्रश्नों के उत्तर देने वाले ऋषि कौन हैं?
 - (क) याज्ञवल्क्य
 - (ख) पिप्पलाद
 - (ग) वसिष्ठ
 - (घ) विश्वामित्र
4. प्राण का क्या अर्थ है?
 - (क) केवल श्वास
 - (ख) जीवन शक्ति
 - (ग) रक्त संचार
 - (घ) भोजन
5. रयि का अर्थ क्या है?
 - (क) चेतना
 - (ख) आत्मा
 - (ग) जड़ पदार्थ
 - (घ) श्वास
6. पंचप्राण में सबसे महत्वपूर्ण कौन सा है?
 - (क) अपान
 - (ख) प्राण

- (ग) व्यान
(घ) समान
7. कौन सा प्राण हृदय में स्थित होता है?
(क) प्राण
(ख) अपान
(ग) व्यान
(घ) समान
8. मृत्यु के समय कौन सा प्राण शरीर छोड़ता है?
(क) प्राण
(ख) उदान
(ग) व्यान
(घ) समान

4.4 पंचप्राण

4.4.1 प्राण

पंचप्राण में प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण प्राण है जिसे मुख्य प्राण भी कहा जाता है। यह हृदय और फेफड़ों के क्षेत्र में कार्य करता है। प्राण का मुख्य कार्य श्वास को नियंत्रित करना है। जब हम सांस अंदर लेते हैं तो प्राण सक्रिय होता है। यह वायु को नासिका से होते हुए फेफड़ों तक पहुंचाता है और वहां से ऑक्सीजन को रक्त में मिलाने का कार्य करता है। प्राण के बिना श्वास क्रिया संभव नहीं है और श्वास के बिना जीवन असंभव है। इसलिए प्राण को सबसे महत्वपूर्ण माना गया है।

प्राण का स्थान मुख्य रूप से हृदय प्रदेश में माना गया है लेकिन इसका प्रभाव पूरे शरीर पर होता है। प्राण ही वह शक्ति है जो शरीर में ऊर्जा का संचार करती है। जब प्राण सबल होता है तो मनुष्य ऊर्जावान और स्वस्थ रहता है। जब प्राण कमजोर हो जाता है तो शरीर में थकान, कमजोरी और बीमारियां उत्पन्न होती हैं। योग में प्राणायाम का अभ्यास इसी प्राण को नियंत्रित और संतुलित करने के लिए किया जाता है। प्राणायाम के द्वारा साधक प्राण की गति को धीमा या तेज कर सकता है जिससे शरीर और मन पर नियंत्रण प्राप्त होता है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि प्राण ही जीवन का आधार है और इसकी साधना से मनुष्य दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त कर सकता है।

4.4.2 अपान

अपान पंचप्राण का दूसरा महत्वपूर्ण प्राण है जो शरीर के निचले भाग में कार्य करता है। इसका मुख्य स्थान नाभि से नीचे का क्षेत्र है। अपान प्राण का कार्य शरीर से अशुद्धियों और मल को बाहर निकालना है। मल, मूत्र, पसीना और अन्य अपशिष्ट पदार्थों को शरीर से बाहर निकालना अपान का मुख्य कार्य है।

अपान की गति नीचे की ओर होती है जबकि प्राण की गति ऊपर की ओर होती है। दोनों की गति विपरीत होने के बावजूद दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और शरीर के संतुलन के लिए आवश्यक हैं।

अपान प्राण का संतुलन स्वास्थ्य के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। जब अपान प्राण असंतुलित हो जाता है तो पाचन संबंधी समस्याएं, कब्ज, मूत्र संबंधी रोग और अन्य विकार उत्पन्न होते हैं। योग में अनेक आसन और प्राणायाम ऐसे हैं जो अपान को संतुलित करने में सहायक होते हैं। मूलबंध और अश्विनी मुद्रा जैसी क्रियाएं अपान को नियंत्रित करने के लिए विशेष रूप से लाभदायक हैं। प्रश्नोपनिषद् में बताया गया है कि अपान केवल मल निष्कासन तक सीमित नहीं है बल्कि यह प्रजनन क्रिया में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गर्भधारण और प्रसव में भी अपान की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस प्रकार अपान शरीर की शुद्धि और संतुलन के लिए अनिवार्य है।

4.4.3 व्यान

व्यान पंचप्राण का तीसरा महत्वपूर्ण प्राण है जो संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। व्यान शब्द का अर्थ ही है जो सर्वत्र फैला हुआ है। प्राण और अपान जहां शरीर के विशेष भागों में केंद्रित हैं वहीं व्यान पूरे शरीर में समान रूप से फैला रहता है। व्यान का मुख्य कार्य रक्त संचार को नियंत्रित करना है। यह हृदय से पंप होने वाले रक्त को शरीर के प्रत्येक अंग तक पहुंचाता है। व्यान के कारण ही शरीर के सभी अंगों को पोषण मिलता है और वे सुचारु रूप से कार्य कर पाते हैं।

व्यान का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य शरीर में ऊर्जा का वितरण करना है। जब हम भोजन करते हैं तो वह पाचन तंत्र में पचता है और ऊर्जा में परिवर्तित होता है। यह ऊर्जा व्यान के द्वारा पूरे शरीर में फैलती है। व्यान ही वह शक्ति है जो शरीर के विभिन्न अंगों के बीच समन्वय स्थापित करती है। जब व्यान संतुलित होता है तो शरीर में एक प्रकार की लय और सामंजस्य होता है। सभी अंग एक दूसरे के साथ तालमेल से काम करते हैं। व्यान के असंतुलन से रक्त संचार में बाधा, अंगों में सुन्नपन, शरीर में दर्द और अन्य समस्याएं उत्पन्न होती हैं। योग में सूर्य नमस्कार और अन्य गतिशील आसन व्यान को संतुलित करने में सहायक होते हैं। प्रश्नोपनिषद् में व्यान को शरीर की जीवनी शक्ति का वितरक माना गया है जो सभी अंगों को जीवंत और सक्रिय रखता है।

4.4.4 उदान

उदान पंचप्राण का चौथा प्राण है जिसका कार्य क्षेत्र गले और सिर का भाग है। उदान शब्द का अर्थ है ऊपर की ओर जाने वाला। उदान की गति ऊर्ध्व दिशा में होती है। उदान का सबसे महत्वपूर्ण कार्य वाणी को नियंत्रित करना है। जब हम बोलते हैं तो उदान ही वायु को स्वर यंत्र तक पहुंचाता है और ध्वनि उत्पन्न करता है। उदान के बिना वाणी संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त उदान निगलने की क्रिया, डकार, उल्टी और छींक जैसी क्रियाओं को भी नियंत्रित करता है।

उदान का एक और महत्वपूर्ण कार्य मृत्यु के समय प्राण को शरीर से बाहर निकालना है। जब मनुष्य की मृत्यु होती है तो उदान ही आत्मा और प्राण को शरीर से ऊपर की ओर ले जाता है। इसलिए उदान को मृत्यु के समय सबसे महत्वपूर्ण प्राण माना जाता है। योगियों का मानना है कि यदि मृत्यु के समय उदान

नियंत्रित हो तो मनुष्य अपनी इच्छानुसार शरीर छोड़ सकता है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि जो व्यक्ति उदान की साधना करता है वह ऊर्ध्व लोकों को प्राप्त करता है। उदान की शक्ति से मनुष्य सात्विक विचार और उच्च चेतना को प्राप्त कर सकता है। उज्जायी प्राणायाम और भ्रामरी प्राणायाम उदान को सबल बनाने में विशेष रूप से सहायक होते हैं।

4.4.5 समान

समान पंचप्राण का पांचवां और अंतिम प्राण है। समान का स्थान नाभि प्रदेश में माना गया है। समान शब्द का अर्थ है समान रूप से काम करने वाला। समान का मुख्य कार्य पाचन क्रिया को नियंत्रित करना है। जब हम भोजन करते हैं तो समान प्राण उस भोजन को पचाने में सहायता करता है। यह पाचक अग्नि को प्रज्वलित करता है और भोजन को रस में परिवर्तित करता है। समान के द्वारा ही शरीर को पोषण मिलता है और शक्ति प्राप्त होती है।

समान का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य शरीर के तापमान को नियंत्रित करना है। यह शरीर में उष्णता और शीतलता का संतुलन बनाए रखता है। समान सभी प्राणों के बीच संतुलन स्थापित करने का भी कार्य करता है। यह प्राण और अपान के बीच सेतु का काम करता है। जब समान संतुलित होता है तो पाचन तंत्र सुचारु रूप से काम करता है। भोजन अच्छी तरह पचता है और शरीर को पूर्ण पोषण मिलता है। समान के असंतुलन से अपच, गैस, एसिडिटी और अन्य पाचन संबंधी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। योग में अग्निसार क्रिया और कपालभाति प्राणायाम समान को सबल बनाने के लिए विशेष रूप से लाभदायक माने गए हैं। प्रश्नोपनिषद् में समान को जठराग्नि का नियंत्रक बताया गया है और कहा गया है कि समान की साधना से दीर्घायु प्राप्त होती है।

बोध प्रश्न

1. प्रश्नोपनिषद् का नामकरण क्यों किया गया? इसकी संरचना को संक्षेप में समझाइए।
2. प्राण और रयि में क्या अंतर है? दोनों का सृष्टि में क्या महत्व है?
3. पंचप्राण क्या हैं? किन्हीं तीन प्राणों के कार्यों को विस्तार से लिखिए।
4. प्राण की सर्वोच्चता को सिद्ध करने वाली कथा को अपने शब्दों में लिखिए।
5. प्रश्नोपनिषद् में वर्णित प्रथम प्रश्न और उसके उत्तर को संक्षेप में समझाइए।
6. चेतना की तीन अवस्थाओं जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति को प्रश्नोपनिषद् के आधार पर समझाइए।
7. ओंकार की उपासना के तीन स्तर क्या हैं? प्रत्येक स्तर का फल क्या है?
8. षोडशकलापुरुष की अवधारणा को समझाइए। ये सोलह कलाएं कौन सी हैं?

4.5 प्रश्नोपनिषद् के छः प्रमुख प्रश्न

4.5.1 प्रथम प्रश्न – सृष्टि की उत्पत्ति

प्रश्नोपनिषद् का प्रथम प्रश्न कबन्धी कात्यायन द्वारा पूछा गया है। वे ऋषि पिप्पलाद से पूछते हैं कि इस सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई? सभी प्राणी कहां से उत्पन्न होते हैं? यह प्रश्न सृष्टि के मूल कारण को

जानने का प्रश्न है। यह मानव जाति का सबसे प्राचीन और मौलिक प्रश्न है जिसे हर युग में पूछा गया है। ऋषि पिप्पलाद इस प्रश्न का बहुत सुंदर और गहन उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि प्रजापति ने प्रजा की इच्छा की। प्रजापति परम ब्रह्म का ही एक नाम है जो सृष्टि का निर्माता है। प्रजापति ने तप किया और तप से उन्होंने एक युगल की सृष्टि की।

यह युगल प्राण और रयि है। प्राण चेतन तत्व है और रयि जड़ तत्व है। प्रजापति ने सोचा कि ये दोनों मिलकर अनेक प्रकार की प्रजा उत्पन्न करेंगे। इस प्रकार सृष्टि का आरंभ प्राण और रयि के संयोग से हुआ। ऋषि पिप्पलाद आगे बताते हैं कि सूर्य प्राण है और चंद्रमा रयि है। सूर्य जीवन देने वाला है और चंद्रमा रूप देने वाला है। सूर्य की ऊर्जा और चंद्रमा की शीतलता के समन्वय से पृथ्वी पर जीवन संभव होता है। प्राण वायु है जो गतिशील है और रयि पृथ्वी है जो स्थिर है। प्राण अग्नि है जो प्रकाशमान है और रयि जल है जो शीतल है। इस प्रकार समस्त सृष्टि प्राण और रयि के विभिन्न रूपों का खेल है। यह उत्तर सृष्टि की द्वैतात्मक प्रकृति को स्पष्ट करता है और बताता है कि चेतन और जड़ दोनों मिलकर ही सृष्टि का निर्माण करते हैं।

4.5.2 द्वितीय प्रश्न – देवताओं की श्रेष्ठता

द्वितीय प्रश्न भार्गव वैदर्भि द्वारा पूछा गया है। वे पूछते हैं कि कितने देवता इस पुरुष को धारण करते हैं? उनमें से कौन प्रकाशित करते हैं और इन सबमें सर्वश्रेष्ठ कौन है? यह प्रश्न शरीर में विभिन्न शक्तियों और उनके महत्व के बारे में है। वैदिक परंपरा में देवता का अर्थ केवल स्वर्ग में रहने वाले देवता नहीं है बल्कि देवता शरीर में कार्य करने वाली विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। ऋषि पिप्पलाद उत्तर देते हैं कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच मुख्य देवता हैं जो शरीर को धारण करते हैं। इसके अतिरिक्त वाक् (वाणी), चक्षु (नेत्र), श्रोत्र (कान), मन और प्राण भी देवता हैं जो शरीर में विभिन्न कार्य करते हैं।

सभी देवता अपनी-अपनी श्रेष्ठता का दावा करते हैं। वाणी कहती है कि मैं सबसे श्रेष्ठ हूं क्योंकि मेरे बिना ज्ञान का प्रसार नहीं हो सकता। चक्षु कहता है कि मैं सर्वश्रेष्ठ हूं क्योंकि मैं संसार को देखने की शक्ति देता हूं। श्रोत्र कहता है कि मैं सबसे महत्वपूर्ण हूं क्योंकि मैं वेदों को सुनने की क्षमता देता हूं। मन कहता है कि मैं सर्वोच्च हूं क्योंकि सभी इंद्रियां मेरे बिना कार्य नहीं कर सकतीं। तब प्राण कहता है कि तुम सभी मेरे ऊपर निर्भर हो। मैं इस शरीर को पांच भागों में बांटकर धारण करता हूं। तुम सब मेरे बिना निष्क्रिय हो जाओगे। अन्य देवता इस पर विश्वास नहीं करते। तब प्राण शरीर छोड़ने का प्रयास करता है और जैसे ही प्राण शरीर छोड़ने लगता है सभी इंद्रियां और देवता भी शरीर छोड़ने लगते हैं। तब सभी को विश्वास हो जाता है कि प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है और वे प्राण की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं।

4.5.3 तृतीय प्रश्न – प्राण की उत्पत्ति और व्यापन

तृतीय प्रश्न कौशल्य आश्वलायन द्वारा पूछा गया है। वे पूछते हैं कि प्राण कहां से उत्पन्न होता है? यह शरीर में कैसे आता है? यह शरीर में कैसे बंटकर रहता है? यह शरीर से कैसे निकलता है? बाह्य जगत का और आंतरिक शरीर का प्राण से क्या संबंध है? यह एक बहुत ही गहन और महत्वपूर्ण प्रश्न है जो प्राण की प्रकृति और कार्यप्रणाली को समझने के लिए आवश्यक है। ऋषि पिप्पलाद उत्तर देते हैं कि प्राण

आत्मा से उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मनुष्य की छाया उससे अलग नहीं होती उसी प्रकार प्राण आत्मा से अलग नहीं है। यह आत्मा का प्रतिबिम्ब है जो शरीर में प्रवेश करता है।

प्राण मन के संकल्प से शरीर में प्रवेश करता है। जब आत्मा शरीर में आने का निर्णय लेती है तो प्राण उसके साथ आता है। प्राण शरीर में प्रवेश करके पांच भागों में विभक्त हो जाता है जो पंचप्राण हैं। प्राण हृदय में, अपान नाभि के नीचे, समान नाभि में, उदान कंठ में और व्यान पूरे शरीर में व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार प्राण पूरे शरीर का संचालन करता है। बाह्य जगत का प्राण अर्थात् वायु और आंतरिक प्राण में घनिष्ठ संबंध है। जब हम श्वास लेते हैं तो बाहरी वायु अंदर आती है और आंतरिक प्राण से मिलती है। यह निरंतर आदान-प्रदान चलता रहता है। मृत्यु के समय प्राण शरीर से निकल जाता है और पुनः आत्मा के साथ चला जाता है। यह प्रश्नोत्तर प्राण की गहन प्रकृति को उजागर करता है।

4.5.4 चतुर्थ प्रश्न – स्वप्न और सुषुप्ति

चतुर्थ प्रश्न सौर्यायणी गार्ग्य द्वारा पूछा गया है। वे पूछते हैं कि शरीर में कौन सोते हैं और कौन जागते हैं? कौन स्वप्न देखता है? किसको सुख प्राप्त होता है? ये सब किसमें स्थित हैं? यह प्रश्न चेतना की विभिन्न अवस्थाओं से संबंधित है। मनुष्य की चेतना तीन अवस्थाओं में रहती है जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति। ऋषि पिप्पलाद इस प्रश्न का बहुत सुंदर उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि जागृत अवस्था में सभी इंद्रियां और मन सक्रिय रहते हैं। इस अवस्था में मनुष्य बाहरी संसार का अनुभव करता है। वाणी, चक्षु, श्रोत्र, त्वचा और अन्य इंद्रियां अपने-अपने विषयों में लगी रहती हैं।

जब रात होती है और मनुष्य सोने की तैयारी करता है तो सभी इंद्रियां धीरे-धीरे अपने कार्य बंद कर देती हैं। लेकिन मन पूरी तरह से विश्राम नहीं करता। मन दिन भर के अनुभवों को पुनः देखता रहता है। यह स्वप्न अवस्था है। स्वप्न में मन ही स्वप्न देखता है और विभिन्न अनुभव करता है। इस अवस्था में शरीर विश्राम करता है लेकिन मन सक्रिय रहता है। जब गहरी नींद आती है तो मन भी विश्राम करने लगता है। यह सुषुप्ति अवस्था है। इस अवस्था में न कोई इंद्रिय सक्रिय होती है और न मन। केवल प्राण जागता रहता है। प्राण शरीर की रक्षा करता है और श्वास क्रिया को जारी रखता है। सुषुप्ति में मनुष्य को परम शांति और आनंद का अनुभव होता है। यह आनंद आत्मा का आनंद है। प्राण ही वह शक्ति है जो तीनों अवस्थाओं में स्थिर रहती है और शरीर को धारण करती है।

4.5.5 पंचम प्रश्न – ओंकार की उपासना

पंचम प्रश्न शैब्य सत्यकाम द्वारा पूछा गया है। वे पूछते हैं कि यदि कोई मनुष्य मृत्युपर्यंत ओंकार का ध्यान करता है तो उसे क्या लोक प्राप्त होता है? ओंकार का क्या महत्व है और इसकी उपासना से क्या फल मिलता है? यह प्रश्न ओंकार की महिमा और उसकी उपासना के फल से संबंधित है। ओंकार अर्थात् ओम भारतीय अध्यात्म का सबसे पवित्र और शक्तिशाली मंत्र है। यह ब्रह्म का ध्वनि रूप माना जाता है। ऋषि पिप्पलाद इस प्रश्न का विस्तार से उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि ओंकार में तीन अक्षर हैं अ, उ और म। यह तीन अक्षर तीन लोकों, तीन वेदों और तीन देवताओं के प्रतीक हैं।



यदि कोई साधक केवल एक अक्षर अकार का ध्यान करता है तो वह शीघ्र ही ऋचाओं द्वारा मनुष्य लोक में आता है और वहां तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा के साथ महिमा प्राप्त करता है। यदि कोई दो अक्षरों अकार और उकार का ध्यान करता है तो वह यजुर्वेद मंत्रों द्वारा अंतरिक्ष लोक में चंद्रलोक को प्राप्त होता है। वहां सुख भोगकर फिर पृथ्वी पर लौट आता है। यदि कोई साधक तीनों अक्षरों अकार, उकार और मकार का पूर्ण ध्यान करता है तो वह सामवेद द्वारा सूर्य में पहुंचता है। जिस प्रकार सांप अपनी केंचुली को छोड़ देता है उसी प्रकार वह पाप से मुक्त हो जाता है और ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। वहां वह परम पुरुष के दर्शन करता है। इस प्रकार ओंकार की उपासना तीन स्तरों पर फल देती है और अंततः साधक को मोक्ष प्राप्त होता है।

4.5.6 षष्ठ प्रश्न – षोडशकलापुरुष

षष्ठ और अंतिम प्रश्न सुकेशा भारद्वाज द्वारा पूछा गया है। वे पूछते हैं कि हिरण्यगर्भ के पुत्र ने मुझसे कहा कि एक पुरुष है जिसमें सोलह कलाएं हैं। उसे मैं जानता हूं। वह पुरुष कौन है? उसकी सोलह कलाएं क्या हैं? यह सबसे गहन और रहस्यमय प्रश्न है। षोडशकलापुरुष अर्थात् सोलह कलाओं वाला पुरुष ब्रह्म का ही एक रूप है। ऋषि पिप्पलाद बहुत गंभीरता से इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि यह पुरुष इसी शरीर के भीतर है जिसमें सोलह कलाएं उत्पन्न होती हैं। इस पुरुष ने विचार किया कि जब मैं चला जाऊंगा तो किसके निकल जाने से यह सब निकल जाएंगे।

तब उसने प्राण, श्रद्धा, पांच महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश), पांच इंद्रियां (वाक्, चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, रसना), मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र और कर्म की सृष्टि की। ये सोलह कलाएं हैं। जिस प्रकार नदियां समुद्र में जाकर अपना नाम-रूप छोड़ देती हैं और केवल समुद्र कहलाती हैं उसी प्रकार ये सोलह कलाएं पुरुष में जाकर अपना नाम-रूप छोड़ देती हैं और केवल पुरुष कहलाती हैं। यह पुरुष नाम-रूप से परे है और अविनाशी है। ऋषि पिप्पलाद अंत में कहते हैं कि यह पुरुष ही परम ब्रह्म है। जो इसे जान लेता है वह मृत्यु को पार कर जाता है। इस अंतिम प्रश्नोत्तर में प्रश्नोपनिषद् का चरम ज्ञान प्रकट होता है और साधक को मोक्ष का मार्ग दिखाया जाता है।

4.6 बोध प्रश्न

1. प्रश्नोपनिषद् के परिचय, महत्व और विशेषताओं पर विस्तृत निबंध लिखिए।
2. प्राण की अवधारणा को प्रश्नोपनिषद् के संदर्भ में विस्तार से समझाइए। प्राण और जीवन का क्या संबंध है?
3. पंचप्राण का विस्तृत वर्णन कीजिए। प्रत्येक प्राण के स्थान और कार्य को स्पष्ट कीजिए।
4. प्रश्नोपनिषद् के द्वितीय और तृतीय प्रश्न का विस्तार से वर्णन कीजिए।
5. प्रश्नोपनिषद् में वर्णित छः प्रश्नों का सारांश प्रस्तुत कीजिए। प्रत्येक प्रश्न का दार्शनिक महत्व बताइए।

6. प्राण और रयि सृष्टि के दो मूल तत्व हैं^७ इस कथन की विवेचना प्रश्नोपनिषद् के आधार पर कीजिए।
7. ओंकार की महिमा और उसकी उपासना विधि का प्रश्नोपनिषद् के आधार पर विस्तृत वर्णन कीजिए।
8. प्रश्नोपनिषद् की शिक्षाओं की आधुनिक युग में क्या प्रासंगिकता है? विस्तार से चर्चा कीजिए।
9. प्रश्नोपनिषद् में वर्णित प्राण विद्या और आधुनिक विज्ञान में श्वास की समझ की तुलना कीजिए।
10. प्राण और रयि की अवधारणा किस प्रकार सांख्य दर्शन के पुरुष-प्रकृति सिद्धांत से मिलती-जुलती है? विवेचना कीजिए।
11. प्रश्नोपनिषद् की शिक्षाओं का योग साधना में क्या योगदान है?
12. षोडशकलापुरुष की अवधारणा का आध्यात्मिक और दार्शनिक महत्व क्या है?



इकाई 05

मुण्डकोपनिषद्—ब्रह्म विद्या के दो उपागम परा और अपरा, ब्रह्म विद्या की श्रेष्ठता

इकाई संरचना

5.1 मुण्डकोपनिषद् का परिचय

- 5.1.1 नाम और उत्पत्ति
- 5.1.2 संरचना और विभाजन
- 5.1.3 महत्व और विशेषताएं

5.2 ब्रह्म विद्या के दो उपागम – परा और अपरा

- 5.2.1 अपरा विद्या का स्वरूप
- 5.2.2 परा विद्या का स्वरूप
- 5.2.3 परा और अपरा विद्या में अंतर

5.3 ब्रह्म विद्या की श्रेष्ठता

- 5.3.1 ब्रह्म विद्या का महत्व
- 5.3.2 अन्य विद्याओं से तुलना
- 5.3.3 ब्रह्म विद्या से प्राप्त होने वाले फल

5.4 स्वार्थिक कर्मों की निरर्थकता

- 5.4.1 सकाम कर्मों का स्वरूप
- 5.4.2 कर्मों की सीमाएं
- 5.4.3 कर्म और मोक्ष

5.5 तप और गुरुभक्ति

- 5.5.1 तप का महत्व
- 5.5.2 गुरु की आवश्यकता
- 5.5.3 शिष्य के गुण

5.6 सृष्टि—उत्पत्ति

- 5.6.1 ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति
- 5.6.2 क्रमिक सृष्टि का वर्णन
- 5.6.3 मकड़ी का दृष्टांत

5.7 ध्यान का परमलक्ष्य – ब्रह्मानुभूति

- 5.7.1 ध्यान का स्वरूप
- 5.7.2 ब्रह्मानुभूति की प्राप्ति
- 5.7.3 मोक्ष का मार्ग

5.8 बोध प्रश्न

5.1 मुण्डकोपनिषद् का परिचय

मुण्डकोपनिषद् भारतीय दर्शन और अध्यात्म के सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपनिषदों में से एक है। यह उपनिषद् अथर्ववेद से संबंधित है और अथर्ववेदीय उपनिषदों में इसका विशेष स्थान है। मुण्डक शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार मुण्डक शब्द मुण्डन से बना है जिसका अर्थ है सिर मुंडाना। प्राचीन काल में संन्यासी अपना सिर मुंडाकर संन्यास ग्रहण करते थे। चूंकि यह उपनिषद् संन्यासियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है इसलिए इसे मुण्डकोपनिषद् कहा गया। कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि यह उपनिषद् मुण्डक नामक ऋषि द्वारा प्रतिपादित किया गया था इसलिए इसे मुण्डकोपनिषद् कहा जाता है।

5.1.1 नाम और उत्पत्ति

इस उपनिषद् का रचनाकाल वैदिक युग के उत्तरार्ध में माना जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि यह उपनिषद् लगभग छठी या सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व में रचा गया होगा। यह वह समय था जब भारतीय दर्शन में गहन आध्यात्मिक चिंतन का विकास हो रहा था। मुण्डकोपनिषद् ब्रह्मविद्या का सर्वोत्तम ग्रंथ माना जाता है। इसमें ब्रह्म के स्वरूप, सृष्टि की उत्पत्ति, ज्ञान के मार्ग और मोक्ष की प्राप्ति के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। यह उपनिषद् विशेष रूप से ज्ञानमार्ग को प्रतिपादित करता है और बताता है कि केवल ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष संभव है। मुण्डकोपनिषद् की भाषा सरल और स्पष्ट है जो इसे अध्ययन के लिए सुगम बनाती है।

5.1.2 संरचना और विभाजन

मुण्डकोपनिषद् की संरचना अत्यंत सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध है। यह उपनिषद् तीन मुण्डकों में विभाजित है और प्रत्येक मुण्डक दो खण्डों में बंटा हुआ है। इस प्रकार कुल छः खण्ड हैं। प्रथम मुण्डक में दो खण्ड हैं जिनमें परा और अपरा विद्या का विभाजन किया गया है और सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। प्रथम खण्ड में शौनक महर्षि अंगिरा ऋषि से ब्रह्मविद्या के विषय में प्रश्न करते हैं। वे पूछते हैं कि किस चीज को जानने से सब कुछ जान लिया जाता है। अंगिरा ऋषि उत्तर में परा और अपरा विद्या का विभाजन प्रस्तुत करते हैं। द्वितीय खण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति और ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है।

द्वितीय मुण्डक भी दो खण्डों में विभाजित है। इसमें कर्मकाण्ड की आलोचना की गई है और बताया गया है कि केवल कर्मों से मोक्ष संभव नहीं है। इसमें तप, त्याग और सत्य की महिमा बताई गई है। प्रथम खण्ड में यज्ञों और अनुष्ठानों की सीमाओं को दर्शाया गया है। द्वितीय खण्ड में ब्रह्म के स्वरूप का विस्तृत

वर्णन है और बताया गया है कि ब्रह्म ही परम सत्य है। तृतीय मुण्डक में भी दो खण्ड हैं जो ब्रह्मानुभूति और मोक्ष के विषय में हैं। प्रथम खण्ड में दो पक्षियों का दृष्टांत दिया गया है जो जीव और आत्मा के संबंध को स्पष्ट करता है। द्वितीय खण्ड में ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय और मोक्ष का मार्ग बताया गया है। इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् की संरचना एक क्रमिक विकास को दर्शाती है जो साधक को धीरे-धीरे परम सत्य की ओर ले जाती है।

5.1.3 महत्व और विशेषताएं

मुण्डकोपनिषद् का भारतीय दर्शन में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यह उपनिषद् ब्रह्मविद्या का प्रमुख ग्रंथ माना जाता है और इसने वेदांत दर्शन को गहराई से प्रभावित किया है। आदि शंकराचार्य ने इस उपनिषद् पर विस्तृत भाष्य लिखा है जो आज भी अध्ययन का विषय है। मुण्डकोपनिषद् की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह ज्ञानमार्ग को सर्वोच्च स्थान देता है। यह उपनिषद् स्पष्ट रूप से कहता है कि केवल कर्मकाण्ड से मोक्ष संभव नहीं है। यज्ञ और अनुष्ठान अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हो सकते हैं लेकिन वे अंतिम लक्ष्य नहीं हैं। अंतिम लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार है जो केवल ज्ञान से प्राप्त होता है।

मुण्डकोपनिषद् की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता इसकी भाषा और शैली है। इस उपनिषद् में अनेक सुंदर उपमाएं और दृष्टांत दिए गए हैं जो गहन दार्शनिक सिद्धांतों को सरल बना देते हैं। मकड़ी का दृष्टांत, दो पक्षियों का दृष्टांत, धनुष-बाण का दृष्टांत और नदियों का दृष्टांत इस उपनिषद् की काव्यात्मक सुंदरता को दर्शाते हैं। इस उपनिषद् में गुरु-शिष्य परंपरा का भी विशेष महत्व बताया गया है। यह स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मज्ञान को केवल योग्य गुरु से ही प्राप्त किया जा सकता है। मुण्डकोपनिषद् में सत्यमेव जयते जैसे प्रसिद्ध वाक्य हैं जो भारत का राष्ट्रीय आदर्श वाक्य बने हैं। यह उपनिषद् न केवल दार्शनिक दृष्टि से बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।

5.2 ब्रह्म विद्या के दो उपागम – परा और अपरा

5.2.1 अपरा विद्या का स्वरूप

मुण्डकोपनिषद् का सबसे महत्वपूर्ण योगदान विद्या को दो भागों में विभाजित करना है परा विद्या और अपरा विद्या। अपरा विद्या का अर्थ है निम्न या सांसारिक विद्या। इसमें वे सभी विद्याएं आती हैं जो भौतिक संसार से संबंधित हैं। मुण्डकोपनिषद् में अपरा विद्या के अंतर्गत चार वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को रखा गया है। इसके अतिरिक्त शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष जो षड्वेदांग कहलाते हैं वे भी अपरा विद्या में सम्मिलित हैं। ये सभी विद्याएं मनुष्य को सांसारिक जीवन जीने में सहायता करती हैं लेकिन मोक्ष नहीं दिला सकतीं।

अपरा विद्या का महत्व इस बात में है कि यह मनुष्य को धर्म के मार्ग पर चलना सिखाती है। वेदों का अध्ययन, यज्ञ और अनुष्ठान, नैतिक जीवन और सामाजिक कर्तव्यों का पालन ये सब अपरा विद्या के फल हैं। यह विद्या मनुष्य को सुसंस्कृत बनाती है और उसे जीवन जीने की कला सिखाती है। अपरा विद्या के द्वारा मनुष्य पुण्य कमाता है और स्वर्गादि उच्च लोकों को प्राप्त करता है। लेकिन यह विद्या अंतिम नहीं

है। स्वर्ग भी नश्वर है और पुण्य समाप्त होने पर मनुष्य पुनः पृथ्वी पर लौट आता है। इसलिए अपरा विद्या से केवल अस्थायी सुख मिलता है स्थायी मुक्ति नहीं। मुण्डकोपनिषद् अपरा विद्या का निरादर नहीं करता बल्कि उसकी सीमाओं को स्पष्ट करता है। यह बताता है कि अपरा विद्या एक सीढ़ी की तरह है जो परा विद्या तक पहुंचने में सहायक हो सकती है लेकिन वह स्वयं अंतिम लक्ष्य नहीं है।

5.2.2 परा विद्या का स्वरूप

परा विद्या का अर्थ है उच्च या परम विद्या। यह वह विद्या है जो ब्रह्म के ज्ञान को प्रदान करती है। परा विद्या सांसारिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक है। यह विद्या मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराती है और बताती है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। परा विद्या का लक्ष्य केवल सूचना प्राप्त करना नहीं है बल्कि परम सत्य का साक्षात्कार करना है। यह विद्या अनुभवात्मक है न कि केवल बौद्धिक। जब मनुष्य परा विद्या को प्राप्त करता है तो उसे आत्मसाक्षात्कार होता है और वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। परा विद्या से ही मोक्ष संभव है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि परा विद्या वह है जिससे अक्षर अर्थात् अविनाशी ब्रह्म को जाना जाता है। यह वह ज्ञान है जो सभी ज्ञानों का आधार है। जब मनुष्य ब्रह्म को जान लेता है तो उसे सब कुछ ज्ञात हो जाता है क्योंकि ब्रह्म ही सब कुछ है। परा विद्या प्राप्त करने के लिए केवल बौद्धिक अध्ययन पर्याप्त नहीं है। इसके लिए तप, त्याग, वैराग्य और गुरु की कृपा आवश्यक है। परा विद्या वह अनुभूति है जो शब्दों से परे है। यह केवल उन्हीं को प्राप्त होती है जो सांसारिक मोह-माया से मुक्त होकर परम सत्य की खोज में लगे हैं। परा विद्या का फल अमरत्व है। जो मनुष्य परा विद्या को प्राप्त कर लेता है वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है और ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

5.2.3 परा और अपरा विद्या में अंतर

परा और अपरा विद्या में मूलभूत अंतर उनके उद्देश्य और फल में है। अपरा विद्या का उद्देश्य सांसारिक जीवन को सुव्यवस्थित और सुखमय बनाना है जबकि परा विद्या का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। अपरा विद्या द्वैत पर आधारित है जहां ज्ञाता और ज्ञेय अलग-अलग हैं। परा विद्या अद्वैत की अनुभूति है जहां ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं। अपरा विद्या में विषय और वस्तु का भेद रहता है लेकिन परा विद्या में सभी भेद समाप्त हो जाते हैं। अपरा विद्या कर्मकाण्ड प्रधान है जबकि परा विद्या ज्ञान प्रधान है।

अपरा विद्या का फल पुण्य और स्वर्ग है जो अस्थायी हैं। जब पुण्य समाप्त हो जाता है तो मनुष्य पुनः संसार में लौट आता है। परा विद्या का फल मोक्ष है जो स्थायी और शाश्वत है। मोक्ष के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। अपरा विद्या प्राप्त करने के लिए मनुष्य को बाह्य साधनों की आवश्यकता होती है जैसे पुस्तकें, शिक्षक और अध्ययन। परा विद्या प्राप्त करने के लिए आंतरिक साधना की आवश्यकता होती है जैसे ध्यान, समाधि और आत्मचिंतन। अपरा विद्या बुद्धि के स्तर पर रहती है जबकि परा विद्या अनुभूति के स्तर पर होती है। मुण्डकोपनिषद् दोनों विद्याओं के महत्व को स्वीकार करता है लेकिन स्पष्ट करता है कि परा विद्या ही सर्वोच्च है और अंतिम लक्ष्य है।

5.3 ब्रह्म विद्या की श्रेष्ठता

5.3.1 ब्रह्म विद्या का महत्व

ब्रह्म विद्या अर्थात् परा विद्या सभी विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ है। यह वह विद्या है जो मनुष्य को परम सत्य से परिचित कराती है। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म विद्या की महत्ता को अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। सबसे पहले यह बताया गया है कि ब्रह्म विद्या वह ज्ञान है जिसे जानने से सब कुछ जान लिया जाता है। जिस प्रकार एक मिट्टी के ढेले को जानने से सभी मिट्टी की वस्तुओं को जान लिया जाता है या एक सोने के आभूषण को जानने से सभी सोने के आभूषणों को जान लिया जाता है उसी प्रकार ब्रह्म को जानने से संपूर्ण सृष्टि को जान लिया जाता है। ब्रह्म ही सब कुछ का मूल है और सब कुछ ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है।

ब्रह्म विद्या मनुष्य को उसकी वास्तविक पहचान देती है। मनुष्य अपने को शरीर मानता है और इसी भ्रम में जीवन भर जीता है। ब्रह्म विद्या इस भ्रम को तोड़ती है और बताती है कि मनुष्य शरीर नहीं बल्कि आत्मा है। आत्मा अमर और अविनाशी है। यह ज्ञान मनुष्य को सभी भयों से मुक्त कर देता है। मृत्यु का भय, हानि का भय, दुख का भय सभी समाप्त हो जाते हैं। ब्रह्म विद्या मनुष्य को परम शांति प्रदान करती है। जब मनुष्य यह जान लेता है कि वह ब्रह्म है तो उसे किसी चीज की आवश्यकता नहीं रहती। वह पूर्ण हो जाता है। ब्रह्म विद्या ही एकमात्र ऐसा ज्ञान है जो मनुष्य को संसार के बंधनों से मुक्त करता है और मोक्ष प्रदान करता है।

5.3.2 अन्य विद्याओं से तुलना

मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म विद्या की तुलना अन्य सभी विद्याओं से की गई है और यह दिखाया गया है कि ब्रह्म विद्या सर्वोच्च है। वेदों का अध्ययन, यज्ञों का अनुष्ठान, दान-पुण्य और तीर्थयात्रा ये सब अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं लेकिन ये अंतिम लक्ष्य नहीं हैं। वेदों से मनुष्य धर्म को जान सकता है लेकिन ब्रह्म को नहीं। यज्ञों से स्वर्ग प्राप्त हो सकता है लेकिन मोक्ष नहीं। दान-पुण्य से पुण्य कमाया जा सकता है लेकिन वह भी अस्थायी है। तीर्थयात्रा से मन शुद्ध हो सकता है लेकिन आत्मज्ञान नहीं हो सकता। ब्रह्म विद्या इन सबसे भिन्न है क्योंकि यह सीधे परम सत्य तक पहुंचाती है।

लौकिक विद्याएं जैसे विज्ञान, गणित, साहित्य और कला भी महत्वपूर्ण हैं। ये विद्याएं मनुष्य को बाह्य जगत को समझने में सहायता करती हैं और जीवन को सुविधाजनक बनाती हैं। लेकिन ये विद्याएं मनुष्य के आंतरिक संसार को नहीं छू पातीं। ये मनुष्य को भौतिक सुख दे सकती हैं लेकिन आध्यात्मिक शांति नहीं। ब्रह्म विद्या मनुष्य को उसके आंतरिक संसार में ले जाती है और उसे उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित कराती है। सभी लौकिक विद्याएं परिवर्तनशील संसार से संबंधित हैं जबकि ब्रह्म विद्या अपरिवर्तनीय सत्य से संबंधित है। सभी विद्याएं सापेक्ष ज्ञान देती हैं जबकि ब्रह्म विद्या निरपेक्ष ज्ञान देती है। इसलिए मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट रूप से कहता है कि ब्रह्म विद्या ही परम विद्या है और सभी विद्याओं का लक्ष्य अंततः ब्रह्म विद्या की ओर जाना चाहिए।



5.3.3 ब्रह्म विद्या से प्राप्त होने वाले फल

ब्रह्म विद्या से प्राप्त होने वाला सर्वोच्च फल मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति। जब मनुष्य ब्रह्म को जान लेता है तो वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है। उसका व्यक्तिगत अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह सार्वभौमिक अस्तित्व का हिस्सा बन जाता है। यह परम आनंद की स्थिति है जहां कोई दुख नहीं है कोई भय नहीं है और कोई इच्छा नहीं है। मोक्ष स्थायी और शाश्वत है। इसके बाद पुनः संसार में लौटना नहीं होता। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जो मनुष्य ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। नदियां जिस प्रकार समुद्र में जाकर अपना अलग अस्तित्व खो देती हैं उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

ब्रह्म विद्या से अन्य अनेक फल भी प्राप्त होते हैं। सबसे पहला फल है भय से मुक्ति। जब मनुष्य यह जान लेता है कि वह अमर आत्मा है तो मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। दूसरा फल है सभी बंधनों से मुक्ति। संसार के सभी बंधन मोह और अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म विद्या अज्ञान को नष्ट कर देती है और सभी बंधन टूट जाते हैं। तीसरा फल है परम शांति। ब्रह्मज्ञानी का मन सदैव शांत रहता है क्योंकि उसे किसी चीज की इच्छा नहीं रहती। चौथा फल है पूर्णता की अनुभूति। ब्रह्म पूर्ण है और जो ब्रह्म को जानता है वह भी पूर्णता को प्राप्त करता है। पांचवां फल है सार्वभौमिक प्रेम। ब्रह्मज्ञानी सभी प्राणियों में ब्रह्म को देखता है इसलिए उसका सभी के प्रति प्रेम होता है। छठा फल है आनंद। ब्रह्म आनंदस्वरूप है और ब्रह्मज्ञानी सदैव आनंद में रहता है।

बोध प्रश्न

1. मुण्डकोपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
 - (क) ऋग्वेद
 - (ख) यजुर्वेद
 - (ग) सामवेद
 - (घ) अथर्ववेद
2. मुण्डकोपनिषद् में कितने मुण्डक हैं?
 - (क) दो
 - (ख) तीन
 - (ग) चार
 - (घ) पांच
3. अपरा विद्या में कौन सी विद्याएं सम्मिलित हैं?
 - (क) केवल चार वेद
 - (ख) केवल ब्रह्मज्ञान
 - (ग) चार वेद और षड्वेदांग

- (घ) केवल योग विद्या
4. परा विद्या का लक्ष्य क्या है?
- (क) धन प्राप्ति
- (ख) ब्रह्म का ज्ञान
- (ग) स्वर्ग प्राप्ति
- (घ) सांसारिक सुख
5. किस ऋषि ने शौनक महर्षि को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया?
- (क) वसिष्ठ
- (ख) विश्वामित्र
- (ग) अंगिरा
- (घ) याज्ञवल्क्य
6. मुण्डकोपनिषद् के अनुसार मोक्ष किससे प्राप्त होता है?
- (क) केवल कर्मकाण्ड से
- (ख) केवल ब्रह्मज्ञान से
- (ग) केवल यज्ञों से
- (घ) केवल तीर्थयात्रा से
7. सत्यमेव जयते किस उपनिषद् से लिया गया है?
- (क) ईशोपनिषद्
- (ख) केनोपनिषद्
- (ग) मुण्डकोपनिषद्
- (घ) कठोपनिषद्
8. ब्रह्म विद्या प्राप्त करने के लिए सबसे आवश्यक क्या है?
- (क) धन
- (ख) गुरु की कृपा और तप
- (ग) सामाजिक प्रतिष्ठा
- (घ) बाह्य अनुष्ठान

5.4 स्वार्थिक कर्मों की निरर्थकता

5.4.1 सकाम कर्मों का स्वरूप

मुण्डकोपनिषद् में स्वार्थिक कर्मों अर्थात् सकाम कर्मों की गहन आलोचना की गई है। सकाम कर्म वे कर्म हैं जो किसी फल की इच्छा से किए जाते हैं। मनुष्य यज्ञ करता है स्वर्ग की प्राप्ति के लिए। वह दान देता है पुण्य कमाने के लिए। वह तप करता है सिद्धियां प्राप्त करने के लिए। ये सभी कर्म किसी न



किसी फल की इच्छा से प्रेरित हैं। वैदिक युग में कर्मकाण्ड का बहुत महत्व था। लोग मानते थे कि यज्ञों और अनुष्ठानों से सभी मनोकामनाएं पूर्ण हो सकती हैं। धन की इच्छा हो तो धन का यज्ञ करो। पुत्र की इच्छा हो तो पुत्रेष्टि यज्ञ करो। शत्रु को पराजित करना हो तो विशेष अनुष्ठान करो। इस प्रकार कर्मकाण्ड पूरी तरह से फल-प्राप्ति पर केंद्रित था।

सकाम कर्मों की समस्या यह है कि वे मनुष्य को संसार में और अधिक उलझा देते हैं। जब मनुष्य किसी फल की इच्छा से कर्म करता है तो उसका मन उस फल में आसक्त हो जाता है। यदि फल मिल जाता है तो वह और अधिक इच्छाएं करने लगता है। यदि फल नहीं मिलता तो वह दुखी हो जाता है। इस प्रकार इच्छाओं का एक अंतहीन चक्र चलता रहता है। सकाम कर्म अस्थायी फल देते हैं। यज्ञों से स्वर्ग प्राप्त हो सकता है लेकिन जब पुण्य समाप्त हो जाता है तो मनुष्य पुनः पृथ्वी पर लौट आता है। दान से धन मिल सकता है लेकिन वह भी नश्वर है। तप से सिद्धियां मिल सकती हैं लेकिन वे भी अस्थायी हैं। मुण्डकोपनिषद् कहता है कि जो मनुष्य सकाम कर्मों को ही सर्वस्व मानते हैं वे अंधकार में भटकते रहते हैं। वे वास्तविक लक्ष्य को नहीं समझ पाते और जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसे रहते हैं।

5.4.2 कर्मों की सीमाएं

मुण्डकोपनिषद् कर्मों की सीमाओं को स्पष्ट रूप से उजागर करता है। कर्म चाहे कितने भी पुण्यात्मक क्यों न हों वे मोक्ष नहीं दिला सकते। कर्म का संबंध कारण और कार्य के नियम से है। हर कर्म का एक फल होता है और जब वह फल भोग लिया जाता है तो कर्म समाप्त हो जाता है। यज्ञ करने से स्वर्ग मिलता है लेकिन जब पुण्य समाप्त हो जाता है तो स्वर्ग भी समाप्त हो जाता है। यह एक चक्र है जो कभी समाप्त नहीं होता। कर्म मनुष्य को संसार में बांधे रखते हैं। प्रत्येक कर्म एक संस्कार छोड़ जाता है और यह संस्कार पुनः कर्म करने को प्रेरित करता है। इस प्रकार कर्म और संस्कार का एक चक्र चलता रहता है।

कर्मों की दूसरी सीमा यह है कि वे केवल बाह्य हैं। यज्ञ एक बाहरी अनुष्ठान है। दान एक बाहरी क्रिया है। तीर्थयात्रा एक बाहरी यात्रा है। ये सभी कर्म शरीर और मन के स्तर पर हैं। लेकिन आत्मा की प्राप्ति बाह्य कर्मों से नहीं हो सकती। आत्मा आंतरिक है और उसकी प्राप्ति के लिए आंतरिक साधना आवश्यक है। बाह्य कर्म मन को शुद्ध कर सकते हैं लेकिन आत्मसाक्षात्कार नहीं करा सकते। कर्मों की तीसरी सीमा यह है कि वे द्वैत पर आधारित हैं। कर्ता और कर्म अलग-अलग हैं। यज्ञ करने वाला और यज्ञ अलग हैं। दान देने वाला और दान लेने वाला अलग हैं। यह द्वैत अज्ञान का परिणाम है। जब तक द्वैत है तब तक अज्ञान है। मोक्ष अद्वैत की अनुभूति में है जहां कर्ता और कर्म का भेद नहीं रहता। मुण्डकोपनिषद् इसलिए कहता है कि कर्म अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं लेकिन वे अंतिम साधन नहीं हैं।

5.4.3 कर्म और मोक्ष

मुण्डकोपनिषद् का स्पष्ट मत है कि केवल कर्मों से मोक्ष संभव नहीं है। मोक्ष के लिए ज्ञान आवश्यक है। कर्म और ज्ञान का संबंध साधन और साध्य का है। कर्म साधन हो सकते हैं लेकिन साध्य नहीं। कर्म मन को शुद्ध कर सकते हैं और साधक को ज्ञान के योग्य बना सकते हैं। जब मनुष्य निस्वार्थ भाव से कर्म



करता है तो उसका मन शुद्ध होता है। मन की शुद्धि से बुद्धि स्वच्छ होती है और स्वच्छ बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश होता है। इस प्रकार कर्म अप्रत्यक्ष रूप से मोक्ष में सहायक हो सकते हैं। लेकिन केवल कर्म करते रहने से मोक्ष नहीं मिलता।

मोक्ष के लिए कर्मों का त्याग भी आवश्यक है। यहां त्याग का अर्थ कर्म न करना नहीं है बल्कि कर्मफल की आसक्ति का त्याग करना है। जब मनुष्य कर्म करता है लेकिन फल की इच्छा नहीं रखता तो वह कर्म उसे बांधता नहीं है। यह निष्काम कर्म का सिद्धांत है। निष्काम कर्म करते हुए मनुष्य धीरे-धीरे कर्म से ऊपर उठता है और ज्ञान की ओर बढ़ता है। अंततः एक स्थिति ऐसी आती है जब कर्म करना भी आवश्यक नहीं रहता। ब्रह्मज्ञानी के लिए न कर्म है न अकर्म। वह कर्म करता हुआ भी कर्म से परे है। उसके कर्म स्वतः स्फूर्त होते हैं और उनमें कोई आसक्ति नहीं होती। मुण्डकोपनिषद् इसलिए कहता है कि कर्म मार्ग का आरंभ है लेकिन ज्ञान मार्ग का अंत है। जो केवल कर्मों में ही लगे रहते हैं वे मार्ग के आरंभ में ही रुक जाते हैं। जो ज्ञान की ओर बढ़ते हैं वे अंतिम लक्ष्य तक पहुंचते हैं।

5.5 तप और गुरुभक्ति

5.5.1 तप का महत्व

मुण्डकोपनिषद् में तप को ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन बताया गया है। तप का अर्थ है कठोर साधना और आत्मसंयम। तप केवल शारीरिक कष्ट सहना नहीं है बल्कि यह मन और इंद्रियों पर नियंत्रण है। तप से मनुष्य अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त करता है और अपनी शक्तियों को केंद्रित करता है। जब मन एकाग्र हो जाता है तो ज्ञान का प्रकाश होता है। तप तीन प्रकार का होता है शारीरिक, वाचिक और मानसिक। शारीरिक तप में शरीर को कष्ट देकर उस पर नियंत्रण प्राप्त किया जाता है। वाचिक तप में वाणी पर संयम रखा जाता है। मानसिक तप में मन की इच्छाओं को नियंत्रित किया जाता है। इन तीनों प्रकार के तप से मनुष्य शुद्ध होता है और ब्रह्मविद्या प्राप्त करने योग्य बनता है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि तप से ही सत्य की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य तप नहीं करता वह सांसारिक भोगों में उलझा रहता है। भोग मनुष्य को संसार में बांधे रखते हैं। तप मनुष्य को भोगों से मुक्त करता है। जब मनुष्य भोगों से मुक्त होता है तो उसका मन स्थिर हो जाता है। स्थिर मन में ही ब्रह्म का प्रतिबिंब पड़ता है। तप से ब्रह्मचर्य की भी प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म में चलना। जो मनुष्य अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण रखता है वह ब्रह्म की ओर बढ़ता है। तप का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू सत्य का पालन है। जो मनुष्य सत्य बोलता है और सत्य के अनुसार जीता है वह तपस्वी है। सत्य और तप दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। मुण्डकोपनिषद् में प्रसिद्ध वाक्य है सत्यमेव जयते नानृतम अर्थात् सत्य की ही विजय होती है असत्य की नहीं। यह वाक्य तप और सत्य के महत्व को दर्शाता है।

5.5.2 गुरु की आवश्यकता

मुण्डकोपनिषद् में गुरु को ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिए अनिवार्य बताया गया है। ब्रह्मज्ञान केवल पुस्तकों से नहीं प्राप्त किया जा सकता। यह एक अनुभवात्मक ज्ञान है जो केवल गुरु से ही प्राप्त होता है। गुरु

वह है जो स्वयं ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका है और जो शिष्य को उसी मार्ग पर ले जा सकता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जो मनुष्य ब्रह्म को जानना चाहता है उसे समिधा हाथ में लेकर गुरु के पास जाना चाहिए। समिधा का अर्थ है ईंधन की लकड़ियां जो यज्ञ में प्रयोग होती हैं। यह प्रतीक है शिष्य की विनम्रता और सेवा भावना का। शिष्य को गुरु के सामने अपने अहंकार को त्यागना होता है और पूर्ण समर्पण के साथ उनकी शरण में जाना होता है।

गुरु की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि ब्रह्मज्ञान का मार्ग कठिन और सूक्ष्म है। इस मार्ग पर अनेक बाधाएं हैं और अनेक भ्रम हैं। बिना गुरु के मार्गदर्शन के शिष्य भटक सकता है। गुरु अपने अनुभव से शिष्य को सही मार्ग दिखाता है। गुरु शिष्य की शंकाओं का समाधान करता है और उसे प्रोत्साहित करता है। गुरु केवल शिक्षक नहीं है बल्कि आध्यात्मिक पिता है। वह शिष्य को नया जन्म देता है एक आध्यात्मिक जन्म। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि गुरु वह है जो ब्रह्म को जानता है और जो ब्रह्म में स्थित है। ऐसे गुरु के पास जाने से शिष्य को सही ज्ञान प्राप्त होता है। गुरु शिष्य को केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं देता बल्कि अनुभवात्मक ज्ञान प्रदान करता है। गुरु की कृपा से ही शिष्य में आध्यात्मिक जागरण होता है और वह ब्रह्म की ओर बढ़ता है।

5.5.3 शिष्य के गुण

मुण्डकोपनिषद् में यह भी बताया गया है कि शिष्य में कुछ विशेष गुण होने चाहिए तभी वह ब्रह्मविद्या प्राप्त करने योग्य बनता है। सबसे पहला गुण है जिज्ञासा। शिष्य में ब्रह्म को जानने की तीव्र इच्छा होनी चाहिए। यह जिज्ञासा सांसारिक जिज्ञासा से भिन्न है। यह आध्यात्मिक जिज्ञासा है जो मनुष्य को परम सत्य की खोज में लगाती है। दूसरा गुण है विनम्रता। शिष्य को अपने अहंकार को त्यागना होता है। जब तक अहंकार है तब तक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। विनम्र शिष्य गुरु की शिक्षाओं को ग्रहण कर सकता है। तीसरा गुण है श्रद्धा। शिष्य को गुरु और उनकी शिक्षाओं में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए। बिना श्रद्धा के ज्ञान फलित नहीं हो सकता।

चौथा गुण है संयम। शिष्य को अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। जो मनुष्य इंद्रियों का दास है वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। पांचवां गुण है धैर्य। ब्रह्मज्ञान तुरंत प्राप्त नहीं होता। इसके लिए लंबी साधना आवश्यक है। शिष्य को धैर्य रखना चाहिए और निरंतर प्रयास करते रहना चाहिए। छठा गुण है त्याग। शिष्य को सांसारिक भोगों का त्याग करना होता है। जब तक भोगों में आसक्ति है तब तक ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। सातवां गुण है सेवा। शिष्य को गुरु की सेवा करनी चाहिए। सेवा से अहंकार नष्ट होता है और विनम्रता आती है। आठवां गुण है साधना। शिष्य को नियमित रूप से ध्यान और मनन करना चाहिए। केवल गुरु की बातें सुन लेना पर्याप्त नहीं है। उन्हें अपने जीवन में उतारना होता है। जब शिष्य में ये सभी गुण होते हैं तो वह ब्रह्मविद्या प्राप्त करने योग्य बनता है और गुरु की कृपा से उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

बोध प्रश्न



1. मुण्डकोपनिषद् में वर्णित सृष्टि उत्पत्ति के सिद्धांत का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. मुण्डकोपनिषद् में प्रयुक्त विभिन्न दृष्टांतों (मकड़ी, नदी, धनुष—बाण) का वर्णन कीजिए और उनका दार्शनिक महत्व बताइए।
3. ध्यान और ब्रह्मानुभूति का स्वरूप मुण्डकोपनिषद् के संदर्भ में समझाइए।
4. मुण्डकोपनिषद् में वर्णित मोक्ष के मार्ग का विस्तृत वर्णन कीजिए।
5. किसको जानने से सब कुछ जान लिया जाता है इस प्रश्न और उसके उत्तर को मुण्डकोपनिषद् के आधार पर विवेचित कीजिए।

5.6 सृष्टि—उत्पत्ति

5.6.1 ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति

मुण्डकोपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति का बहुत सुंदर और दार्शनिक वर्णन है। इस उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म ही सृष्टि का मूल कारण है। ब्रह्म से ही सब कुछ उत्पन्न होता है ब्रह्म में ही सब कुछ स्थित रहता है और अंत में ब्रह्म में ही सब कुछ विलीन हो जाता है। सृष्टि से पहले केवल ब्रह्म था। वह एक था अद्वितीय था। उसमें से कुछ भी प्रकट नहीं था। वह निर्गुण निराकार और अव्यक्त था। फिर ब्रह्म में एक इच्छा उत्पन्न हुई बहु स्याम प्रजायेय अर्थात् मैं अनेक हो जाऊं मैं प्रजा उत्पन्न करूं। यह इच्छा ही सृष्टि का प्रथम कारण बनी। ब्रह्म ने तप किया और तप से उसने इस विश्व की रचना की।

ब्रह्म से सबसे पहले प्राण की उत्पत्ति हुई। प्राण जीवन शक्ति है जो सभी जीवों को चेतना प्रदान करती है। प्राण से मन की उत्पत्ति हुई। मन विचार और भावना का केंद्र है। मन से सत्य की उत्पत्ति हुई। सत्य ही वास्तविकता है जो सदैव रहता है। सत्य से अमृतत्व की उत्पत्ति हुई। अमृतत्व का अर्थ है अविनाशीपन। इस प्रकार ब्रह्म से क्रमशः सूक्ष्म तत्वों की उत्पत्ति हुई। फिर इन सूक्ष्म तत्वों से स्थूल तत्वों की उत्पत्ति हुई। पंचमहाभूत पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश की उत्पत्ति हुई। इन पंचमहाभूतों से समस्त ब्रह्मांड की रचना हुई। यह सृष्टि ब्रह्म से भिन्न नहीं है बल्कि ब्रह्म का ही विस्तार है। जिस प्रकार मकड़ी अपने मुंह से जाला निकालती है उसी प्रकार ब्रह्म से यह सृष्टि निकली है।

5.6.2 क्रमिक सृष्टि का वर्णन

मुण्डकोपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति को क्रमबद्ध तरीके से समझाया गया है। पहले चरण में ब्रह्म से सूक्ष्म तत्वों की उत्पत्ति हुई। ब्रह्म ने सबसे पहले अग्नि की सृष्टि की। यहां अग्नि से तात्पर्य केवल भौतिक अग्नि से नहीं है बल्कि दिव्य अग्नि से है जो प्रकाश और ऊर्जा का स्रोत है। अग्नि से प्राण की उत्पत्ति हुई। प्राण से चित्त की उत्पत्ति हुई। चित्त से आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश सबसे सूक्ष्म भौतिक तत्व है। आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई। वायु गतिशील तत्व है जो सभी जगह व्याप्त है। वायु से अग्नि (भौतिक अग्नि) की उत्पत्ति हुई। अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार पंचमहाभूतों की क्रमिक सृष्टि हुई।

दूसरे चरण में इन पंचमहाभूतों से स्थूल जगत की रचना हुई। पृथ्वी से औषधियाँ और वनस्पतियाँ उत्पन्न हुई। वनस्पतियों से अन्न की उत्पत्ति हुई। अन्न से वीर्य की उत्पत्ति हुई। वीर्य से पुरुष की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार जीवों की सृष्टि हुई। तीसरे चरण में विभिन्न लोकों की सृष्टि हुई। ब्रह्म ने सात लोकों की रचना की भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक। प्रत्येक लोक एक विशेष स्तर की चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। चौथे चरण में विभिन्न देवताओं की सृष्टि हुई। सूर्य, चंद्र, अग्नि, वायु, इंद्र, वरुण और अन्य देवताओं की उत्पत्ति हुई। ये देवता विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक हैं। पांचवें चरण में मनुष्य और अन्य प्राणियों की सृष्टि हुई। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार यह संपूर्ण सृष्टि ब्रह्म की लीला है। यह न तो केवल यांत्रिक है और न ही केवल आकस्मिक। यह एक सुनियोजित और उद्देश्यपूर्ण सृष्टि है जिसका अंतिम उद्देश्य जीवों को मोक्ष की ओर ले जाना है।

5.6.3 मकड़ी का दृष्टांत

मुण्डकोपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति को समझाने के लिए एक अत्यंत सुंदर दृष्टांत दिया गया है मकड़ी का दृष्टांत। जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर से जाला निकालती है, उसी जाले में रहती है और अंत में उसी जाले को अपने अंदर वापस ले लेती है, उसी प्रकार ब्रह्म से यह सृष्टि निकलती है, ब्रह्म में ही स्थित रहती है और अंत में ब्रह्म में ही विलीन हो जाती है। यह दृष्टांत बहुत गहन दार्शनिक सत्य को व्यक्त करता है। मकड़ी और जाला अलग-अलग नहीं हैं। जाला मकड़ी से ही निकला है और मकड़ी का ही विस्तार है। इसी प्रकार सृष्टि और ब्रह्म अलग-अलग नहीं हैं। सृष्टि ब्रह्म का ही विस्तार है।

यह दृष्टांत यह भी स्पष्ट करता है कि सृष्टि की रचना में किसी बाहरी सामग्री की आवश्यकता नहीं है। मकड़ी बाहर से कोई सामग्री नहीं लाती। वह अपने ही शरीर से जाला बनाती है। इसी प्रकार ब्रह्म ने भी बाहर से कोई सामग्री नहीं ली। उसने अपने ही स्वरूप से सृष्टि की रचना की। यह दृष्टांत सृष्टि की अस्थायी प्रकृति को भी दर्शाता है। जाला स्थायी नहीं है। मकड़ी जब चाहे उसे वापस ले सकती है। इसी प्रकार सृष्टि भी स्थायी नहीं है। यह प्रकट होती है और विलीन हो जाती है। यह एक चक्र है जो निरंतर चलता रहता है। लेकिन इस सब में ब्रह्म अपरिवर्तित रहता है। जिस प्रकार जाला बनाने और नष्ट करने से मकड़ी में कोई परिवर्तन नहीं होता उसी प्रकार सृष्टि की रचना और विनाश से ब्रह्म में कोई परिवर्तन नहीं होता। ब्रह्म सदैव वही रहता है शाश्वत और अपरिवर्तनीय।

बोध प्रश्न

1. मुण्डकोपनिषद् के परिचय, संरचना और महत्व पर विस्तृत निबंध लिखिए।
2. परा और अपरा विद्या की अवधारणा को मुण्डकोपनिषद् के संदर्भ में विस्तार से समझाइए।
3. ऋग्वेदविद्या सभी विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ है इस कथन की विवेचना मुण्डकोपनिषद् के आधार पर कीजिए।
4. मुण्डकोपनिषद् में वर्णित सकाम कर्मों की आलोचना और निष्काम कर्म के महत्व को स्पष्ट कीजिए।

5. तप, त्याग और गुरुभक्ति का ब्रह्मविद्या प्राप्ति में क्या महत्व है? मुण्डकोपनिषद् के आधार पर विस्तार से लिखिए।

5.7 ध्यान का परमलक्ष्य—ब्रह्मानुभूति

5.7.1 ध्यान का स्वरूप

मुण्डकोपनिषद् में ध्यान को ब्रह्मप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन बताया गया है। ध्यान का अर्थ है मन को एकाग्र करना और चित्त को शांत करना। जब मन चंचल होता है तो वह बाहरी विषयों में भटकता रहता है। ध्यान के द्वारा मन को विषयों से हटाकर एक बिंदु पर केंद्रित किया जाता है। यह बिंदु ब्रह्म है। ध्यान केवल एक तकनीक नहीं है बल्कि एक आध्यात्मिक अनुभव है। ध्यान में साधक अपनी बाह्य चेतना से ऊपर उठता है और आंतरिक चेतना में प्रवेश करता है। बाह्य संसार धीरे-धीरे धुंधला हो जाता है और आंतरिक प्रकाश प्रकट होने लगता है।

मुण्डकोपनिषद् में ध्यान को धनुष-बाण के दृष्टान्त से समझाया गया है। ओंकार धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। साधक को धनुष को दृढ़ता से पकड़ना चाहिए और बाण को सावधानी से साधना चाहिए। फिर पूरी एकाग्रता से बाण को छोड़ना चाहिए ताकि वह लक्ष्य में लग जाए। इसी प्रकार ध्यान में साधक को ओंकार का जाप करना चाहिए, अपनी आत्मा को एकाग्र करना चाहिए और ब्रह्म को लक्ष्य बनाना चाहिए। जब ध्यान पूर्ण होता है तो आत्मा ब्रह्म में विलीन हो जाती है। ध्यान के लिए शांत वातावरण, सही आसन और नियमित अभ्यास आवश्यक है। प्रारंभ में ध्यान कठिन लगता है क्योंकि मन भटकता रहता है। लेकिन निरंतर अभ्यास से मन धीरे-धीरे नियंत्रित हो जाता है और ध्यान गहरा होने लगता है।

5.7.2 ब्रह्मानुभूति की प्राप्ति

ब्रह्मानुभूति ध्यान का अंतिम लक्ष्य है। ब्रह्मानुभूति का अर्थ है ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव। यह कोई बौद्धिक ज्ञान नहीं है बल्कि प्रत्यक्ष साक्षात्कार है। जब साधक की चेतना पूर्णतया शुद्ध हो जाती है और मन पूरी तरह शांत हो जाता है तो ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यह अनुभूति शब्दों से परे है। इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता केवल अनुभव किया जा सकता है। ब्रह्मानुभूति में साधक को यह बोध होता है कि वह स्वयं ब्रह्म है। उसका व्यक्तिगत अस्तित्व विलीन हो जाता है और वह सार्वभौमिक अस्तित्व का हिस्सा बन जाता है। सभी भेद समाप्त हो जाते हैं। आत्मा और ब्रह्म एक हो जाते हैं।

मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मानुभूति की तुलना नदियों के समुद्र में विलीन होने से की गई है। जिस प्रकार नदियां विभिन्न नामों और रूपों में बहती हैं लेकिन जब वे समुद्र में पहुंचती हैं तो अपना नाम और रूप छोड़ देती हैं और केवल समुद्र कहलाती हैं, उसी प्रकार जीव विभिन्न नामों और रूपों में रहते हैं लेकिन जब वे ब्रह्म को प्राप्त करते हैं तो अपना व्यक्तिगत अस्तित्व छोड़ देते हैं और ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। ब्रह्मानुभूति के बाद साधक का जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है। वह जीवनमुक्त हो जाता है। शरीर में रहते हुए भी वह मुक्त है। उसे किसी चीज की इच्छा नहीं रहती। वह सदैव आनंद में रहता है।



उसे किसी से कोई भय नहीं है और किसी के प्रति कोई शत्रुता नहीं है। वह सभी में ब्रह्म को देखता है और सभी से प्रेम करता है।

5.7.3 मोक्ष का मार्ग

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार मोक्ष का मार्ग ज्ञान का मार्ग है। मोक्ष कहीं बाहर नहीं है जहां जाना हो। मोक्ष स्वयं में ही है। यह एक अनुभूति है एक जागरण है। जब मनुष्य को यह बोध हो जाता है कि वह ब्रह्म है तो वह मुक्त हो जाता है। मोक्ष के मार्ग में कई चरण हैं। पहला चरण है वैराग्य। वैराग्य का अर्थ है सांसारिक भोगों से विरक्ति। जब तक मनुष्य भोगों में आसक्त है तब तक मोक्ष संभव नहीं है। दूसरा चरण है विवेक। विवेक का अर्थ है नित्य और अनित्य का भेद जानना। जो नश्वर है उसे छोड़ देना और जो शाश्वत है उसे पकड़ लेना। तीसरा चरण है शम और दम। शम का अर्थ है मन का नियंत्रण और दम का अर्थ है इंद्रियों का नियंत्रण।

चौथा चरण है श्रद्धा। ब्रह्म में और गुरु में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए। पांचवां चरण है समाधान। समाधान का अर्थ है मन की एकाग्रता। छठा चरण है गुरु की शरण में जाना। गुरु से ब्रह्मविद्या ग्रहण करनी चाहिए। सातवां चरण है ध्यान। नियमित ध्यान से मन शुद्ध होता है और ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। आठवां और अंतिम चरण है समाधि। समाधि में साधक पूर्णतया ब्रह्म में लीन हो जाता है। यह मोक्ष की अवस्था है। मुण्डकोपनिषद् कहता है कि जो मनुष्य इस मार्ग पर चलता है और अंत तक पहुंचता है वह ब्रह्म को प्राप्त करता है। वह सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है। उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। वह पूर्ण हो जाता है और परम शांति को प्राप्त करता है।

यह इकाई मुण्डकोपनिषद् के मुख्य दार्शनिक सिद्धांतों को सरल हिंदी में प्रस्तुत करती है। छात्रों को सलाह दी जाती है कि वे मूल उपनिषद् का भी अध्ययन करें और इन गहन अवधारणाओं पर मनन करें। मुण्डकोपनिषद् केवल एक धार्मिक ग्रंथ नहीं है बल्कि यह जीवन जीने की एक दिशा प्रदान करता है। इसकी शिक्षाएं आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं जितनी हजारों वर्ष पहले थीं।

5.8 बोध प्रश्न

1. मुण्डकोपनिषद् में कितने मुण्डक और कितने खण्ड हैं? प्रत्येक मुण्डक का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. परा और अपरा विद्या में क्या अंतर है? दोनों के उदाहरण दीजिए।
3. मुण्डकोपनिषद् के अनुसार अपरा विद्या में कौन सी विद्याएं सम्मिलित हैं?
4. ब्रह्मविद्या क्यों सर्वश्रेष्ठ है? इसके तीन कारण बताइए।
5. सकाम कर्मों की क्या सीमाएं हैं? मुण्डकोपनिषद् के आधार पर समझाइए।
6. मुण्डकोपनिषद् में तप को क्यों महत्वपूर्ण बताया गया है?
7. गुरु की क्या आवश्यकता है? शिष्य में कौन से गुण होने चाहिए?
8. मकड़ी के दृष्टांत को अपने शब्दों में समझाइए।

9. ध्यान के लिए धनुष-बाण का दृष्टांत क्या है?
10. ब्रह्मानुभूति क्या है? यह कैसे प्राप्त होती है?



इकाई संरचना

- 6.1 माण्डूक्य उपनिषद का परिचय और महत्व
- 6.2 ओंकार की महिमा और स्वरूप
- 6.3 चेतना की चार अवस्थाओं का सामान्य परिचय
- 6.4 जाग्रत अवस्था (वैश्वानर) और अ कार
- 6.5 स्वप्न अवस्था (तैजस) और उ कार
- 6.6 सुषुप्ति अवस्था (प्राज्ञ) और म कार
- 6.7 तुरीय अवस्था — चेतना की परम अवस्था
- 6.8 चारों अवस्थाओं का तुलनात्मक विवेचन
- 6.9 माण्डूक्य उपनिषद का दार्शनिक महत्व
- 6.10 आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन
- 6.11 बोध प्रश्न

6.1 माण्डूक्य उपनिषद का परिचय और महत्व

माण्डूक्य उपनिषद भारतीय दर्शन के इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण और संक्षिप्त उपनिषद है। यह अथर्ववेद से संबंधित है और इसमें केवल बारह मन्त्र हैं। इसकी संक्षिप्तता के बावजूद, इस उपनिषद में वेदान्त दर्शन का सार निहित है। आदि शंकराचार्य ने कहा है कि माण्डूक्य उपनिषद अकेला ही मोक्ष के लिए पर्याप्त है। यह कथन इस उपनिषद की गहनता और महत्व को स्पष्ट करता है। इस उपनिषद का नाम माण्डूक्य इसलिए पड़ा क्योंकि यह मण्डूक ऋषि द्वारा प्रकट किया गया था या इसका सम्बन्ध माण्डूक्य शाखा से है।

माण्डूक्य उपनिषद की विशेषता यह है कि यह ओंकार (ॐ) के माध्यम से समस्त ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करता है। ओंकार को ब्रह्म का प्रतीक माना गया है और इसके तीन अक्षर — अ, उ, म — चेतना की तीन अवस्थाओं के प्रतीक हैं। चौथी अवस्था, जिसे तुरीय कहा गया है, इन तीनों से परे है और ओंकार की सम्पूर्णता में निहित है। यह उपनिषद मनुष्य की चेतना की विभिन्न अवस्थाओं का वैज्ञानिक और दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

इस उपनिषद का दार्शनिक महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि गौड़पादाचार्य ने इस पर माण्डूक्य कारिका नामक एक विस्तृत ग्रंथ की रचना की, जिसमें अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया। गौड़पादाचार्य आदि शंकराचार्य के परमगुरु थे और उनकी यह कारिका अद्वैत वेदान्त

के विकास में मील का पत्थर मानी जाती है। माण्डूक्य उपनिषद न केवल भारतीय दर्शन में बल्कि विश्व दर्शन में भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है क्योंकि यह चेतना के विज्ञान को इतनी सूक्ष्मता से प्रस्तुत करता है।

माण्डूक्य उपनिषद का मूल उद्देश्य आत्मा और ब्रह्म की एकता को प्रतिपादित करना है। यह उपनिषद बताता है कि जो आत्मा व्यक्ति के भीतर है, वही ब्रह्म समस्त जगत में व्याप्त है। ओंकार इसी अद्वैत सत्य का प्रतीक है। जब साधक ओंकार का ध्यान करता है और उसके विभिन्न अंगों को समझता है, तब वह धीरे-धीरे चेतना की उच्चतर अवस्थाओं की ओर बढ़ता है। अंततः वह तुरीय अवस्था में पहुँचकर अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार माण्डूक्य उपनिषद केवल एक दार्शनिक ग्रंथ नहीं है, बल्कि यह एक व्यावहारिक साधना पद्धति भी प्रस्तुत करता है।

भारतीय परम्परा में माण्डूक्य उपनिषद को विशेष सम्मान प्राप्त है। अनेक संतों और आचार्यों ने इस पर टीकाएँ लिखी हैं और इसके गूढ़ रहस्यों को समझाने का प्रयास किया है। यह उपनिषद योग, ध्यान और आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया में मार्गदर्शन करता है। आधुनिक युग में भी जब मनुष्य चेतना और मन के रहस्यों को समझने का प्रयास कर रहा है, तब माण्डूक्य उपनिषद की शिक्षाएँ अत्यंत प्रासंगिक हो जाती हैं। यह उपनिषद बताता है कि मनुष्य की चेतना कितनी व्यापक है और कैसे हम अपनी जागरूकता को विस्तृत कर सकते हैं।

6.2 ओंकार की महिमा और स्वरूप

ओंकार या प्रणव (ॐ) भारतीय संस्कृति और दर्शन में सर्वाधिक पवित्र और शक्तिशाली मन्त्र माना गया है। माण्डूक्य उपनिषद का प्रारम्भ ही ओंकार की महिमा से होता है। प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि ओंकार यह सम्पूर्ण जगत है। जो कुछ भूत, वर्तमान और भविष्य में है या होगा, वह सब ओंकार है। और जो इन तीनों कालों से परे है, वह भी ओंकार ही है। यह कथन ओंकार की व्यापकता और सर्वव्यापकता को दर्शाता है। ओंकार केवल एक ध्वनि या शब्द नहीं है, बल्कि यह सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण और सार है।

ओंकार तीन अक्षरों से मिलकर बना है — अ, उ और म। ये तीनों अक्षर क्रमशः सृष्टि, स्थिति और लय के प्रतीक हैं। अ कार ब्रह्मा का प्रतीक है जो सृष्टि करता है, उ कार विष्णु का प्रतीक है जो पालन करता है, और म कार शिव का प्रतीक है जो संहार करता है। इस प्रकार ओंकार में सम्पूर्ण त्रिदेव और उनके कार्य समाहित हैं। परन्तु माण्डूक्य उपनिषद में ओंकार का एक गहरा आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत किया गया है, जो चेतना की अवस्थाओं से जुड़ा है।

ओंकार के उच्चारण में एक विशेष वैज्ञानिकता है। जब हम अ का उच्चारण करते हैं, तो ध्वनि कण्ठ से प्रारम्भ होती है। उ के उच्चारण में ध्वनि मुख के मध्य भाग से निकलती है, और म के उच्चारण में ध्वनि होंठों पर आकर समाप्त हो जाती है। इस प्रकार ओंकार का उच्चारण सम्पूर्ण मुख गुहा का उपयोग करता



है। यह सम्पूर्णता का प्रतीक है। ओंकार की ध्वनि की एक अनुगूँज होती है जो म के बाद भी कुछ समय तक बनी रहती है। यह तुरीय अवस्था का प्रतीक है, जो तीनों अक्षरों के परे है।

ओंकार को ध्यान और साधना में विशेष महत्व दिया गया है। जब साधक ओंकार का जप करता है या उस पर ध्यान करता है, तो उसका मन शांत होता है और चेतना उच्चतर स्तरों की ओर बढ़ती है। ओंकार का उच्चारण शरीर में विशेष कम्पन उत्पन्न करता है जो नाड़ियों को शुद्ध करता है और प्राण को संतुलित करता है। यह केवल एक मानसिक या आध्यात्मिक अभ्यास नहीं है, बल्कि इसके शारीरिक लाभ भी हैं। आधुनिक विज्ञान ने भी ओंकार के उच्चारण के सकारात्मक प्रभावों को स्वीकार किया है।

माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार को ब्रह्म का प्रतीक और साधन दोनों माना गया है। ओंकार वह धनुष है, आत्मा वह बाण है, और ब्रह्म वह लक्ष्य है। साधक को चाहिए कि वह ओंकार रूपी धनुष पर आत्मा रूपी बाण को रखकर ब्रह्म रूपी लक्ष्य को भेदे। इस रूपक के माध्यम से उपनिषद् यह बताता है कि ओंकार केवल उपासना का विषय नहीं है, बल्कि यह आत्म-साक्षात्कार का साधन है। जब साधक ओंकार के साथ पूर्ण रूप से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तो वह स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है।

6.3 चेतना की चार अवस्थाओं का सामान्य परिचय

माण्डूक्य उपनिषद् की सबसे महत्वपूर्ण देन चेतना की चार अवस्थाओं का विवेचन है। यह उपनिषद् मनुष्य की चेतना को चार स्तरों में विभाजित करता है – जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। प्रथम तीन अवस्थाएँ तो सामान्य मनुष्य के अनुभव में आती हैं, परन्तु चौथी अवस्था, तुरीय, केवल साधना और आत्म-साक्षात्कार के माध्यम से प्राप्त होती है। इन चार अवस्थाओं को समझना आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

जाग्रत अवस्था वह अवस्था है जिसमें हम सामान्यतः रहते हैं। इस अवस्था में हम बाहरी जगत् से इन्द्रियों के माध्यम से जुड़े रहते हैं। हम देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श करते हैं, और विभिन्न वस्तुओं का अनुभव करते हैं। इस अवस्था में मन बहिर्मुखी होता है और स्थूल जगत् में व्यस्त रहता है। जाग्रत अवस्था में हमारी चेतना भौतिक शरीर और बाहरी संसार के साथ तादात्म्य स्थापित किए रहती है। यह अवस्था क्रियाशीलता और व्यवहार की अवस्था है।

स्वप्न अवस्था वह अवस्था है जिसमें हम सोते समय स्वप्न देखते हैं। इस अवस्था में इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं, परन्तु मन सक्रिय रहता है। मन अपनी संस्कारों और वासनाओं के आधार पर एक सूक्ष्म जगत् की रचना करता है। स्वप्न में हम जो कुछ देखते हैं, वह बाहरी जगत् नहीं है, बल्कि हमारे मन की ही सृष्टि है। फिर भी स्वप्न देखते समय हमें वह सत्य प्रतीत होता है। स्वप्न अवस्था में चेतना अन्तर्मुखी हो जाती है और सूक्ष्म जगत् में विचरण करती है।

सुषुप्ति अवस्था वह गहरी नींद की अवस्था है जिसमें न तो स्वप्न होते हैं और न ही बाहरी जगत् का ज्ञान। इस अवस्था में मन भी शांत हो जाता है और व्यक्ति पूर्ण विश्राम की स्थिति में होता है। सुषुप्ति में



सभी द्वैत समाप्त हो जाते हैं और व्यक्ति एक प्रकार की एकता का अनुभव करता है। जाग्रत और स्वप्न की तुलना में सुषुप्ति अधिक शांतिपूर्ण अवस्था है। इस अवस्था में चेतना कारण शरीर में स्थित होती है। तुरीय अवस्था चेतना की सर्वोच्च अवस्था है। यह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति – इन तीनों से परे है। तुरीय का अर्थ ही है चौथा। यह वह अवस्था है जिसमें आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होती है। इस अवस्था में न कोई द्वैत है, न कोई भेद। यह शुद्ध चेतना की अवस्था है, जो सदा जाग्रत है, परन्तु किसी विषय से जुड़ी नहीं है। तुरीय में साधक ब्रह्म का साक्षात्कार करता है और जानता है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। यह मोक्ष की अवस्था है।

माण्डूक्य उपनिषद् बताता है कि ये चारों अवस्थाएँ एक ही आत्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। आत्मा इन चारों अवस्थाओं में विभिन्न रूपों में प्रकट होती है, परन्तु मूलतः वह एक ही है। जैसे एक ही व्यक्ति जागते, स्वप्न देखते और सोते समय भिन्न-भिन्न अनुभवों से गुजरता है, परन्तु वह व्यक्ति एक ही रहता है, वैसे ही आत्मा इन चारों अवस्थाओं में एक ही रहती है। इन अवस्थाओं को समझना आत्मा के शाश्वत स्वरूप को समझने की कुंजी है।

6.4 जाग्रत अवस्था (वैश्वानर) और अ कार

जाग्रत अवस्था को माण्डूक्य उपनिषद् में वैश्वानर कहा गया है। वैश्वानर का अर्थ है जो सबके लिए सामान्य है या जो सार्वभौमिक है। यह नाम इसलिए दिया गया क्योंकि जाग्रत अवस्था का अनुभव सभी मनुष्यों को होता है। इस अवस्था में आत्मा बाहर की ओर मुखातिब होती है और स्थूल जगत का अनुभव करती है। जाग्रत अवस्था में व्यक्ति सात अंगों और उन्नीस मुखों से युक्त कहा गया है। सात अंग हैं – आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य और चन्द्रमा। उन्नीस मुख हैं – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

जाग्रत अवस्था में चेतना स्थूल शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित करती है। व्यक्ति अपने को शरीर मानता है और कहता है मैं चल रहा हूँ, मैं खा रहा हूँ, मैं देख रहा हूँ। इस अवस्था में आत्मा स्थूल भोगों का अनुभव करती है। स्थूल भोग का अर्थ है वे सुख-दुःख जो बाहरी विषयों से प्राप्त होते हैं। जब हम सुंदर दृश्य देखते हैं, मधुर संगीत सुनते हैं, स्वादिष्ट भोजन करते हैं, तो ये सब स्थूल भोग हैं। जाग्रत अवस्था कर्म और उसके फलों की अवस्था है।

माण्डूक्य उपनिषद् में जाग्रत अवस्था को ओंकार के प्रथम अक्षर अ से जोड़ा गया है। अ कार सभी अक्षरों में प्रथम है और सभी अक्षरों में व्याप्त है। जैसे अ के बिना कोई अक्षर उच्चारित नहीं हो सकता, वैसे ही जाग्रत अवस्था के बिना अन्य अवस्थाओं का अनुभव सम्भव नहीं है। अ कार की व्यापकता और प्राथमिकता जाग्रत अवस्था की मूलभूत प्रकृति को दर्शाती है। जो व्यक्ति ओंकार के अ कार का ध्यान करता है और उसे जाग्रत अवस्था से जोड़कर समझता है, वह सभी मनोरथों को प्राप्त करता है और आदित्व को, अर्थात् श्रेष्ठता को, प्राप्त करता है।



जाग्रत अवस्था की एक विशेषता यह है कि इसमें व्यक्ति को अपनी पहचान बाहरी जगत से मिलती है। व्यक्ति अपने नाम, रूप, सम्बन्ध, सामाजिक स्थिति आदि से अपनी पहचान बनाता है। इस अवस्था में अहंकार सक्रिय रहता है और व्यक्ति मैं और तुम, यह और वह के द्वैत में जीता है। सारा संसार—व्यवहार जाग्रत अवस्था में ही होता है। परिवार, समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीति — सब जाग्रत अवस्था के क्षेत्र हैं। इसलिए यह अवस्था अत्यंत महत्वपूर्ण है।

परन्तु माण्डूक्य उपनिषद् बताता है कि जाग्रत अवस्था आत्मा की सम्पूर्ण वास्तविकता नहीं है। यह आत्मा का एक पहलू मात्र है। जब हम सोते हैं तो यह जाग्रत जगत विलीन हो जाता है। जो जगत जाग्रत अवस्था में इतना ठोस और वास्तविक प्रतीत होता है, वह स्वप्न में या गहरी नींद में गायब हो जाता है। यह बताता है कि जाग्रत अवस्था का जगत भी एक प्रकार का आपेक्षिक सत्य है, परम सत्य नहीं। अकार का ध्यान करते हुए साधक को यह समझना चाहिए कि जाग्रत अवस्था में जो कुछ अनुभव हो रहा है, वह भी आत्मा की ही अभिव्यक्ति है। बाहरी जगत में जो विविधता दिखाई देती है, वह सब एक ही आत्मा का विस्तार है।

6.5 स्वप्न अवस्था (तैजस) और उ कार

स्वप्न अवस्था को माण्डूक्य उपनिषद् में तैजस कहा गया है। तैजस का अर्थ है तेजोमय या प्रकाशमान। यह नाम इसलिए दिया गया क्योंकि स्वप्न अवस्था में चेतना अन्तर्मुखी होकर अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होती है। स्वप्न में बाहरी प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती; मन अपनी स्मृतियों और संस्कारों के आधार पर एक पूरा जगत रचता है। तैजस भी सात अंगों और उन्नीस मुखों से युक्त है, परन्तु यहाँ ये सब सूक्ष्म रूप में होते हैं। स्वप्न अवस्था में व्यक्ति अन्तःप्रज्ञ होता है, अर्थात् उसकी चेतना भीतर की ओर मुड़ी होती है।

स्वप्न अवस्था एक रहस्यमय अवस्था है। इसमें इन्द्रियाँ तो निष्क्रिय हो जाती हैं, परन्तु मन पूरी तरह सक्रिय रहता है। मन अपनी वासनाओं, इच्छाओं, भयों और आकांक्षाओं के आधार पर एक सूक्ष्म जगत की सृष्टि करता है। स्वप्न में हम ऐसे स्थानों पर जा सकते हैं जहाँ कभी गए नहीं, ऐसे लोगों से मिल सकते हैं जो जीवित नहीं हैं, और ऐसी घटनाएँ अनुभव कर सकते हैं जो भौतिक जगत में सम्भव नहीं हैं। स्वप्न में समय और स्थान के नियम बदल जाते हैं। कुछ क्षणों में वर्षों का अनुभव हो सकता है।

स्वप्न अवस्था में भोग को प्रविविक्त या सूक्ष्म भोग कहा गया है। जाग्रत अवस्था में हम बाहरी विषयों से सुख—दुःख प्राप्त करते हैं, परन्तु स्वप्न में सब कुछ मन की ही रचना है। फिर भी स्वप्न देखते समय हमें उतना ही वास्तविक अनुभव होता है जितना जागते समय। स्वप्न में हम डर सकते हैं, प्रसन्न हो सकते हैं, दुःखी हो सकते हैं। यह दर्शाता है कि सुख—दुःख केवल मन की अवस्थाएँ हैं, बाहरी विषय उनके कारण नहीं हैं। स्वप्न अवस्था हमें यह सिखाती है कि मन स्वयं एक सृजनकर्ता है।

माण्डूक्य उपनिषद् में स्वप्न अवस्था को ओंकार के दूसरे अक्षर उ से जोड़ा गया है। उ कार अ और म के बीच में है, जैसे स्वप्न अवस्था जाग्रत और सुषुप्ति के बीच में है। उ कार में उत्कर्ष का भाव है, ऊर्ध्वगमन



का भाव है। स्वप्न अवस्था में चेतना स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ती है। उ कार का ध्यान करने वाला साधक ज्ञान की दृष्टि से उत्कर्ष को प्राप्त करता है। उसके लिए ज्ञान और अज्ञान में समान भाव हो जाता है, अर्थात् वह द्वंद्वों से ऊपर उठ जाता है। उ कार की साधना से साधक की चेतना विस्तृत होती है।

स्वप्न अवस्था का एक महत्वपूर्ण संदेश यह है कि सृष्टि मन की ही रचना है। जैसे स्वप्न में मन एक पूरा जगत रचता है, वैसे ही जाग्रत जगत भी ब्रह्म की माया से रचा गया है। स्वप्न देखते समय हमें स्वप्न वास्तविक लगता है, परन्तु जागने पर हम जानते हैं कि वह मिथ्या था। इसी प्रकार जब आत्मज्ञान होता है, तो यह समस्त जगत मिथ्या प्रतीत होता है और केवल ब्रह्म ही सत्य रह जाता है। स्वप्न अवस्था हमें माया के स्वरूप को समझने में सहायता करती है। जो साधक उ कार का ध्यान करता है, वह धीरे-धीरे जगत की मायामयता को समझने लगता है और उससे मुक्त होने की दिशा में आगे बढ़ता है।

6.6 सुषुप्ति अवस्था (प्राज्ञ) और म कार

सुषुप्ति अवस्था गहरी निद्रा की अवस्था है, जिसे माण्डूक्य उपनिषद् में प्राज्ञ कहा गया है। प्राज्ञ का अर्थ है प्रज्ञानघन, अर्थात् जहाँ केवल ज्ञान या चेतना का घनीभूत रूप है। इस अवस्था में न तो कोई स्वप्न होता है और न ही बाहरी जगत का कोई ज्ञान। सुषुप्ति अवस्था में व्यक्ति एकीभूत हो जाता है; सभी द्वैत समाप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में चेतना कारण शरीर में स्थित होती है। प्राज्ञ सर्वेश्वर है, सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है, और सबकी योनि या उत्पत्ति का स्थान है।

सुषुप्ति अवस्था की विशेषता यह है कि इसमें कोई इच्छा नहीं होती और कोई स्वप्न नहीं देखा जाता। जाग्रत अवस्था में हम निरंतर कुछ न कुछ चाहते रहते हैं, स्वप्न अवस्था में भी मन की वासनाएँ क्रियाशील रहती हैं, परन्तु सुषुप्ति में सब शांत हो जाता है। इसलिए सुषुप्ति को आनन्दमय अवस्था कहा गया है। जब व्यक्ति गहरी नींद से जागता है, तो वह कहता है मैंने बहुत अच्छी नींद ली, मुझे कुछ भी पता नहीं चला। यह आनन्द की अनुभूति सुषुप्ति की विशेषता है। यह आनन्द इसलिए है क्योंकि सुषुप्ति में व्यक्ति अपनी मूल प्रकृति के निकट होता है।

सुषुप्ति में चेतना एकीकृत हो जाती है। जाग्रत और स्वप्न में जो विविधता है, वह सुषुप्ति में समाप्त हो जाती है। सभी द्वंद्व – सुख-दुःख, शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय – सब विलीन हो जाते हैं। यह एकत्व की अवस्था है। परन्तु यह एकत्व अचेतन है, अज्ञान से युक्त है। सुषुप्ति में व्यक्ति को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। जागने के बाद वह कहता है मुझे कुछ भी याद नहीं। यह अज्ञान सुषुप्ति की सीमा है। फिर भी, यह अवस्था महत्वपूर्ण है क्योंकि यह तुरीय की ओर ले जाने वाली है।

माण्डूक्य उपनिषद् में सुषुप्ति अवस्था को ओंकार के तीसरे अक्षर म से जोड़ा गया है। म कार में मिति और अपिति दोनों भाव हैं। मिति का अर्थ है मापना या सीमित करना, और अपिति का अर्थ है लय या विलीन होना। सुषुप्ति में सब कुछ अपनी मूल अवस्था में लौट जाता है, विलीन हो जाता है। जैसे म के उच्चारण में होंठ बंद हो जाते हैं और ध्वनि समाप्त होती है, वैसे ही सुषुप्ति में सभी क्रियाएँ और विचार



समाप्त हो जाते हैं। म कार का ध्यान करने वाला साधक सब कुछ मापता है, अर्थात् समझता है, और अपिति को प्राप्त करता है, अर्थात् सब कुछ में लीन हो जाता है।

सुषुप्ति अवस्था हमें यह सिखाती है कि शांति और आनन्द हमारे भीतर ही हैं। बाहरी विषय और परिस्थितियाँ सुख के कारण नहीं हैं। सुषुप्ति में कोई बाहरी विषय नहीं होता, फिर भी व्यक्ति आनन्द का अनुभव करता है। यदि बाहरी विषय सुख के कारण होते, तो सुषुप्ति में सुख नहीं होता। परन्तु सुषुप्ति का आनन्द सीमित है क्योंकि यह अज्ञान से युक्त है। तुरीय अवस्था में वही आनन्द पूर्ण ज्ञान के साथ प्राप्त होता है। सुषुप्ति एक पड़ाव है, अंतिम लक्ष्य नहीं। जो साधक म कार का ध्यान करता है, वह इस सत्य को समझता है और तुरीय की ओर बढ़ता है।

बोध प्रश्न

1. माण्डूक्य उपनिषद् में कुल कितने मन्त्र हैं?
 - (अ) आठ
 - (ब) दस
 - (स) बारह
 - (द) पन्द्रह
2. ओंकार के कितने अक्षर हैं?
 - (अ) दो
 - (ब) तीन
 - (स) चार
 - (द) पाँच
3. जाग्रत अवस्था को किस नाम से जाना जाता है?
 - (अ) तैजस
 - (ब) प्राज्ञ
 - (स) वैश्वानर
 - (द) तुरीय
4. स्वप्न अवस्था में चेतना किस प्रकार की होती है?
 - (अ) बहिर्मुखी
 - (ब) अन्तर्मुखी
 - (स) शून्य
 - (द) उदासीन
5. सुषुप्ति अवस्था में क्या नहीं होता?
 - (अ) चेतना

- (ब) स्वप्न
(स) आनन्द
(द) शरीर
6. तुरीय शब्द का अर्थ क्या है?
(अ) तीसरा
(ब) चौथा
(स) पाँचवाँ
(द) अंतिम
7. जाग्रत अवस्था किस अक्षर से सम्बन्धित है?
(अ) अ
(ब) उ
(स) म
(द) कोई नहीं
8. माण्डूक्य उपनिषद् किस वेद से सम्बन्धित है?
(अ) ऋग्वेद
(ब) यजुर्वेद
(स) सामवेद
(द) अथर्ववेद
9. किस अवस्था को प्रज्ञानघन कहा गया है?
(अ) जाग्रत
(ब) स्वप्न
(स) सुषुप्ति
(द) तुरीय
10. गौड़पादाचार्य किसके गुरु थे?
(अ) शंकराचार्य
(ब) रामानुजाचार्य
(स) मध्वाचार्य
(द) निम्बार्काचार्य

6.7 तुरीय अवस्था – चेतना की परम अवस्था

तुरीय अवस्था चेतना की सर्वोच्च और परम अवस्था है। तुरीय शब्द का अर्थ है चौथा, परन्तु यह केवल संख्या में चौथा नहीं है, बल्कि यह पहली तीन अवस्थाओं से गुणात्मक रूप से भिन्न है। तुरीय जाग्रत,



स्वप्न और सुषुप्ति — इन तीनों अवस्थाओं का आधार है, इनका साक्षी है, और इन सबसे परे है। यह शुद्ध चेतना की अवस्था है, जिसमें कोई विषय नहीं है, कोई विकार नहीं है। तुरीय में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होती है। यह न तो अन्तःप्रज्ञ है और न बहिःप्रज्ञ, न उभयतःप्रज्ञ है। यह प्रज्ञानघन भी नहीं है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है।

तुरीय अवस्था का वर्णन करना अत्यंत कठिन है क्योंकि यह सभी शब्दों और विचारों से परे है। माण्डूक्य उपनिषद् तुरीय का वर्णन नकारात्मक शब्दों में करता है, अर्थात् बताता है कि यह क्या नहीं है। यह इसलिए है क्योंकि तुरीय किसी भी सामान्य अनुभव से तुलनीय नहीं है। यह अदृश्य है, अव्यवहार्य है, अग्राह्य है, अलक्षण है, अचिन्त्य है, अव्यपदेश्य है। परन्तु उपनिषद् एक सकारात्मक विशेषता भी बताता है — तुरीय एकात्मप्रत्ययसार है, अर्थात् यह एकमात्र आत्मा का प्रत्यय या अनुभव है। तुरीय में केवल आत्मा का अनुभव रहता है, और वह भी अद्वैत रूप में।

तुरीय में सभी प्रपंच, सभी विस्तार, शांत हो जाते हैं। यह शिव है, अद्वैत है। यह आत्मा है। तुरीय की प्राप्ति ही मोक्ष है, जीवनमुक्ति है। जो साधक तुरीय में स्थित होता है, वह जीते जी मुक्त हो जाता है। उसके लिए जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है। वह सभी द्वंद्वों से मुक्त हो जाता है। उसे सुख-दुःख, जय-पराजय, प्रशंसा-निन्दा — कुछ भी प्रभावित नहीं करता। वह सदा शांत और आनन्दमय रहता है। उसके लिए सर्वत्र ब्रह्म ही दिखाई देता है।

तुरीय अवस्था को ओंकार की सम्पूर्णता से जोड़ा जाता है। जैसे अ, उ और म के उच्चारण के बाद एक अनुगूँज बची रहती है, वैसे ही तुरीय जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के बाद जो शेष रहता है, वह है। यह अनुगूँज ओंकार का चौथा पाद कहा जा सकता है, परन्तु वास्तव में यह तीनों पादों में व्याप्त है और उनसे परे भी है। जो साधक ओंकार की इस सम्पूर्णता का ध्यान करता है, वह तुरीय को प्राप्त करता है। ओंकार का यह ध्यान धीरे-धीरे साधक को तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठाता है और तुरीय में स्थापित करता है।

तुरीय की प्राप्ति सरल नहीं है। यह लम्बी साधना, त्याग, वैराग्य और गुरु की कृपा से प्राप्त होती है। पहले साधक को जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं को समझना होता है। उसे यह जानना होता है कि ये तीनों अवस्थाएँ परिवर्तनशील हैं और आत्मा इन तीनों का साक्षी है। जब साधक इन तीनों से अपने को पृथक् कर लेता है, तो वह तुरीय में प्रवेश करता है। तुरीय में प्रवेश करना अपने वास्तविक स्वरूप को जानना है। यह आत्मसाक्षात्कार है। माण्डूक्य उपनिषद् कहता है कि यह तुरीय जानने योग्य है, इसी को जानना चाहिए।

6.8 चारों अवस्थाओं का तुलनात्मक विवेचन

चेतना की चारों अवस्थाओं को समझने के लिए उनकी तुलना करना आवश्यक है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय — ये चारों अवस्थाएँ एक ही आत्मा की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं, परन्तु इनमें महत्वपूर्ण अंतर भी हैं। जाग्रत अवस्था में चेतना बहिर्मुखी होती है और स्थूल जगत का अनुभव करती है। इस अवस्था में



व्यक्ति इन्द्रियों के माध्यम से बाहरी विषयों से जुड़ा रहता है। जाग्रत में अनुभव किया जाने वाला जगत सबके लिए सामान्य है। जो हम देखते हैं, वही दूसरे भी देखते हैं। इसलिए जाग्रत जगत को वस्तुनिष्ठ या सार्वभौमिक माना जाता है।

स्वप्न अवस्था में चेतना अन्तर्मुखी हो जाती है और सूक्ष्म जगत में विचरण करती है। स्वप्न में अनुभव किया जाने वाला जगत व्यक्तिगत होता है। जो हम स्वप्न में देखते हैं, वह केवल हमारा अनुभव है, दूसरों का नहीं। स्वप्न जगत आत्मनिष्ठ है। परन्तु स्वप्न देखते समय यह आत्मनिष्ठता का बोध नहीं होता; हमें स्वप्न भी उतना ही वास्तविक प्रतीत होता है जितना जाग्रत जगत। केवल जागने के बाद ही हम समझते हैं कि वह स्वप्न था। इससे यह सिद्ध होता है कि वास्तविकता की अनुभूति हमारी चेतना की अवस्था पर निर्भर करती है।

सुषुप्ति अवस्था जाग्रत और स्वप्न दोनों से भिन्न है। इसमें न तो बाहरी जगत का अनुभव होता है और न ही मन की सृष्टि का। सभी द्वैत समाप्त हो जाते हैं और व्यक्ति एकीभूत हो जाता है। सुषुप्ति में आनन्द है, परन्तु ज्ञान नहीं है। जागने के बाद व्यक्ति कहता है श्मैने बहुत अच्छी नींद ली, परन्तु मुझे कुछ पता नहीं चला। यह श्पता न चलना अज्ञान है। सुषुप्ति में चेतना कारण शरीर में लीन हो जाती है, जो अव्यक्त और अविकसित है। सुषुप्ति एक संक्रमणकालीन अवस्था है जो जाग्रत और स्वप्न के बीच सेतु का काम करती है।

तुरीय अवस्था इन तीनों से सर्वथा भिन्न है। यह न बहिर्मुखी है, न अन्तर्मुखी, और न ही अज्ञानमय। तुरीय शुद्ध चेतना की अवस्था है जो सदा जाग्रत है, परन्तु किसी विषय से बंधी नहीं है। तुरीय में ज्ञान और आनन्द दोनों हैं। यह सच्चिदानन्द की अवस्था है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में व्यक्ति कुछ न कुछ बनता है – जाग्रत में वह शरीर बनता है, स्वप्न में मन बनता है, सुषुप्ति में कारण शरीर बनता है। परन्तु तुरीय में व्यक्ति अपने शुद्ध स्वरूप में रहता है, कुछ बनता नहीं। तुरीय आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है।

इन चारों अवस्थाओं की तुलना से यह स्पष्ट होता है कि सत्य की विभिन्न परतें हैं। जाग्रत जगत एक स्तर का सत्य है, स्वप्न जगत दूसरे स्तर का, और तुरीय परम सत्य है। सामान्य व्यक्ति जाग्रत जगत को ही एकमात्र सत्य मानता है, परन्तु जब वह स्वप्न देखता है तो स्वप्न भी उतना ही सत्य लगता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सत्य सापेक्ष है, चेतना की अवस्था पर निर्भर है। केवल तुरीय ही निरपेक्ष सत्य है, जो सभी अवस्थाओं में एक समान रहता है। माण्डूक्य उपनिषद् का संदेश यही है कि हमें इस परम सत्य को जानना चाहिए, तुरीय में स्थित होना चाहिए।

बोध प्रश्न

1. तैजस का क्या अर्थ है? यह किस अवस्था का नाम है?
2. प्राज्ञ की परिभाषा दीजिए।
3. अयमात्मा ब्रह्म महावाक्य का क्या अर्थ है?
4. ओंकार के तीन अक्षर कौन से हैं और वे किन अवस्थाओं के प्रतीक हैं?



5. गौड़पादाचार्य कौन थे और उनका माण्डूक्य उपनिषद से क्या सम्बन्ध है?
6. स्वप्न अवस्था में भोग को क्या कहा गया है?

6.9 माण्डूक्य उपनिषद का दार्शनिक महत्व

माण्डूक्य उपनिषद का दार्शनिक महत्व अपार है। यह उपनिषद अद्वैत वेदान्त का मूल आधार है और इसने भारतीय दर्शन को गहराई से प्रभावित किया है। इस उपनिषद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह चेतना का एक वैज्ञानिक और व्यवस्थित विश्लेषण प्रस्तुत करता है। चेतना की चार अवस्थाओं का विवेचन केवल धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं है, बल्कि यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। आधुनिक मनोविज्ञान भी चेतना की विभिन्न अवस्थाओं को स्वीकार करता है और माण्डूक्य उपनिषद का विश्लेषण आज भी प्रासंगिक है।

माण्डूक्य उपनिषद ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। अयमात्मा ब्रह्म — यह आत्मा ही ब्रह्म है। यह महावाक्य माण्डूक्य उपनिषद का सार है। यह उपनिषद बताता है कि जो चेतना व्यक्ति के भीतर जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं से गुजरती है, वही चेतना तुरीय में ब्रह्मस्वरूप है। आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। यह अद्वैत का मूल सिद्धान्त है। माण्डूक्य उपनिषद ने इस सिद्धान्त को इतनी स्पष्टता से प्रस्तुत किया कि बाद के सभी अद्वैतवादी आचार्यों ने इसे आधार बनाया।

गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद पर अपनी प्रसिद्ध कारिका लिखी, जिसमें चार अध्याय हैं — आगम प्रकरण, वैतथ्य प्रकरण, अद्वैत प्रकरण और अलातशान्ति प्रकरण। इस कारिका में गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद के सिद्धान्तों को विस्तार से समझाया और अनेक दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर दिया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि जगत मिथ्या है, केवल ब्रह्म सत्य है। यह ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या का सिद्धान्त माण्डूक्य उपनिषद की व्याख्या से ही विकसित हुआ। आदि शंकराचार्य ने गौड़पादाचार्य की इस कारिका पर टीका लिखी और अद्वैत वेदान्त को एक संपूर्ण दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया।

माण्डूक्य उपनिषद का दार्शनिक महत्व केवल अद्वैत वेदान्त तक सीमित नहीं है। इस उपनिषद ने योग, ध्यान और आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया को भी प्रभावित किया है। ओंकार का ध्यान योग का एक महत्वपूर्ण अंग है। पतञ्जलि के योगसूत्र में भी ओंकार के ध्यान का उल्लेख है। माण्डूक्य उपनिषद ने यह बताया कि ओंकार केवल एक मन्त्र नहीं है, बल्कि यह आत्म-साक्षात्कार का एक व्यावहारिक साधन है। ओंकार के विभिन्न अंगों का ध्यान करते हुए साधक धीरे-धीरे चेतना की उच्चतर अवस्थाओं में पहुँचता है और अंततः तुरीय में स्थित होता है।

माण्डूक्य उपनिषद ने यह भी स्पष्ट किया कि आध्यात्मिकता केवल विश्वास या श्रद्धा का विषय नहीं है, बल्कि यह अनुभव का विषय है। तुरीय कोई काल्पनिक या सैद्धान्तिक अवस्था नहीं है, बल्कि यह एक वास्तविक अनुभव है जिसे साधक प्राप्त कर सकता है। उपनिषद साधक को प्रोत्साहित करता है कि वह स्वयं अनुभव करे, केवल शब्दों पर विश्वास न करे। यह अनुभववादी दृष्टिकोण भारतीय दर्शन की एक



महत्वपूर्ण विशेषता है। माण्डूक्य उपनिषद् आज भी उन सभी साधकों के लिए प्रेरणा का स्रोत है जो आत्म-साक्षात्कार की दिशा में आगे बढ़ना चाहते हैं।

बोध प्रश्न

1. माण्डूक्य उपनिषद् का सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक क्या है?
 2. चेतना की कितनी अवस्थाएँ हैं?
 3. तुरीय का शाब्दिक अर्थ क्या है?
 4. जाग्रत अवस्था में कितने अंग और कितने मुख बताए गए हैं?
 5. किस अवस्था में स्वप्न नहीं होते?
 6. ॐ का उच्चारण किन तीन अक्षरों से मिलकर बनता है?
 7. किस उपनिषद् को अकेला ही मोक्ष के लिए पर्याप्त माना गया है?
 8. आत्मा का साक्षी स्वरूप किस अवस्था में सबसे स्पष्ट होता है?
-

6.10 आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन

माण्डूक्य उपनिषद् का केन्द्रीय संदेश आत्मा और ब्रह्म की एकता है। यह उपनिषद् विभिन्न प्रकार से यह सिद्ध करता है कि जीवात्मा और परमात्मा में कोई मूलभूत भेद नहीं है। जो आत्मा व्यक्ति के भीतर है, वही ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। यह एकता केवल एक दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है, बल्कि यह एक अनुभवगम्य सत्य है। जब साधक तुरीय अवस्था में पहुँचता है, तो उसे इस एकता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वह अनुभव करता है कि अहं ब्रह्मास्मि – मैं ब्रह्म हूँ।

माण्डूक्य उपनिषद् आत्मा और ब्रह्म की एकता को ओंकार के माध्यम से समझाता है। ओंकार ब्रह्म का प्रतीक है और वही आत्मा भी है। जैसे ओंकार के तीन अक्षर अलग-अलग हैं परन्तु मिलकर एक ओंकार बनाते हैं, वैसे ही आत्मा की तीन अवस्थाएँ अलग-अलग प्रतीत होती हैं परन्तु मूलतः वे एक ही आत्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। और वह आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है। ओंकार का ध्यान करते हुए साधक धीरे-धीरे इस एकता को समझने लगता है। जाग्रत अवस्था में जो चेतना बाहरी जगत् का अनुभव करती है, स्वप्न में जो मन की सृष्टि को देखती है, और सुषुप्ति में जो विश्राम करती है, वह सब एक ही चेतना है।

यह एकता का बोध क्रमिक रूप से विकसित होता है। पहले साधक को यह समझना होता है कि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति – ये तीनों अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, परन्तु जो इन तीनों का साक्षी है, वह आत्मा नहीं बदलती। जब हम जागते हैं, तो कहते हैं मैं जाग रहा हूँ, जब स्वप्न देखते हैं, तो कहते हैं मैं स्वप्न देख रहा हूँ, और जब जागते हैं, तो कहते हैं मैंने गहरी नींद ली। यह मैं सभी अवस्थाओं में एक समान है। यह मैं आत्मा है, जो सभी अवस्थाओं का साक्षी है, परन्तु स्वयं किसी अवस्था में बंधी नहीं है।

जब साधक इस आत्मा को जान लेता है, तो वह यह भी जान लेता है कि यही आत्मा ब्रह्म है। जैसे व्यक्ति की आत्मा तीनों अवस्थाओं का आधार है, वैसे ही ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का आधार है। जगत् में जो कुछ भी है – चर-अचर, सजीव-निर्जीव, सूक्ष्म-स्थूल – सब ब्रह्म की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। जैसे समुद्र में



अनेक लहरें उठती हैं, परन्तु सभी लहरें जल की ही हैं, वैसे ही जगत में अनेक नाम-रूप हैं, परन्तु सब ब्रह्म के ही हैं। आत्मा और ब्रह्म में जो भेद दिखाई देता है, वह अज्ञान के कारण है। जब ज्ञान होता है, तो यह भेद समाप्त हो जाता है।

माण्डूक्य उपनिषद् का यह संदेश अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह मनुष्य को उसकी वास्तविक महिमा का बोध कराता है। मनुष्य केवल एक क्षुद्र प्राणी नहीं है, बल्कि वह ब्रह्मस्वरूप है। उसकी आत्मा शाश्वत है, अमर है, सच्चिदानन्दस्वरूप है। जन्म-मृत्यु केवल शरीर के हैं, आत्मा का नहीं। जब मनुष्य इस सत्य को जान लेता है, तो सभी भय समाप्त हो जाते हैं, सभी दुःख मिट जाते हैं। वह परम शांति और आनन्द को प्राप्त करता है। यही मोक्ष है, यही जीवन का परम लक्ष्य है। माण्डूक्य उपनिषद् हमें इस लक्ष्य की ओर ले जाने वाला मार्गदर्शक है।

आत्मा और ब्रह्म की एकता का यह ज्ञान केवल व्यक्तिगत लाभ तक सीमित नहीं है। जब व्यक्ति जानता है कि सभी में एक ही आत्मा है, तो उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। वह सभी प्राणियों में अपने को देखता है। उसमें करुणा, प्रेम और समानता का भाव जागृत होता है। वह किसी से घृणा नहीं कर सकता, किसी को दुःख नहीं पहुँचा सकता, क्योंकि दूसरे को दुःख देना अपने को ही दुःख देना है। यह आध्यात्मिक दृष्टि समाज में शांति, सद्भाव और एकता लाती है। माण्डूक्य उपनिषद् का संदेश केवल व्यक्तिगत मोक्ष का नहीं, बल्कि सामूहिक कल्याण का भी है। जब अधिक से अधिक लोग आत्मा और ब्रह्म की एकता को समझेंगे, तो सम्पूर्ण मानवता एक नए युग में प्रवेश करेगी।

6.11 बोध प्रश्न

1. माण्डूक्य उपनिषद् के दार्शनिक महत्व का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. चेतना की चार अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन करते हुए बताइए कि ये ओंकार के विभिन्न अक्षरों से कैसे सम्बन्धित हैं।
3. तुरीय अवस्था क्या है? यह अन्य तीन अवस्थाओं से किस प्रकार भिन्न है? विस्तार से समझाइए।
4. माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मा और ब्रह्म की एकता का किस प्रकार प्रतिपादन किया गया है? व्याख्या कीजिए।
5. ओंकार की महिमा और उसके दार्शनिक महत्व को माण्डूक्य उपनिषद् के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
6. जाग्रत और स्वप्न अवस्था में क्या अंतर है? दोनों की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए।
7. सुषुप्ति अवस्था की विशेषताओं का वर्णन करते हुए बताइए कि यह तुरीय अवस्था से किस प्रकार भिन्न है।
8. माण्डूक्य उपनिषद् का अद्वैत वेदान्त के विकास में क्या योगदान है? विस्तार से लिखिए।
9. माण्डूक्य उपनिषद् में कितने मन्त्र हैं और यह किस वेद से सम्बन्धित है?
10. वैश्वानर किसे कहा गया है और यह किस अवस्था से सम्बन्धित है?



तृतीय खण्ड-आत्मा, ब्रह्म और पंचकोश की गहन समझ

खण्ड परिचय

तृतीय खण्ड में आत्मा और ब्रह्म के तत्वों को न केवल सिद्धान्त रूप में समझाया गया है, बल्कि साधक को अनुभव की ओर भी ले जाया जाता है। इस खण्ड की सभी इकाइयाँ मिलकर हमें यह बताती हैं कि मनुष्य का अस्तित्व केवल भौतिक शरीर तक सीमित नहीं है, बल्कि वह ब्रह्म से जुड़ी हुई चेतना का अंश है। इकाई 7 – आत्मा और ब्रह्म के तत्व, इस इकाई में आत्मा और ब्रह्म की पहचान कराई जाती है। आत्मा को शुद्ध, अविनाशी और सर्वव्यापी बताया गया है, जबकि ब्रह्म को परम सत्य और अनन्त चेतना के रूप में समझाया गया है। यहाँ यह भी बताया जाता है कि आत्मा और ब्रह्म अलग नहीं हैं, बल्कि एक ही सत्य के दो रूप हैं। इकाई 8 – ओम् ध्यान की महत्ता, ओम् को ब्रह्म का प्रतीक माना गया है। इस इकाई में ओम् का उच्चारण, उसका ध्यान और उसके द्वारा साधक के भीतर उत्पन्न होने वाली शांति और एकाग्रता का वर्णन है। ओम् ध्यान साधक को आत्मा और ब्रह्म के अनुभव की ओर ले जाने वाला द्वार है।

इकाई 9 – पंचकोश की व्याख्या, यहाँ मानव अस्तित्व की पाँच परतों का विस्तार से वर्णन है – अन्नमय कोश (भौतिक शरीर), प्राणमय कोश (जीवन शक्ति), मनोमय कोश (मन और भावनाएँ), विज्ञानमय कोश (बुद्धि और विवेक), आनन्दमय कोश (आनन्द और शांति) इन पंचकोशों को समझने से साधक को यह ज्ञान होता है कि आत्मा इन परतों से परे है और वास्तविक पहचान इनसे ऊपर है। इकाई 4 – साक्षात्कार विद्या इस इकाई में आत्मा और ब्रह्म के प्रत्यक्ष अनुभव की शिक्षा दी जाती है। उपनिषद बताते हैं कि केवल अध्ययन से नहीं, बल्कि ध्यान, साधना और आत्मानुभव से ही ब्रह्म का साक्षात्कार संभव है। यह विद्या साधक को परम शांति, आनन्द और मोक्ष की ओर ले जाती है।

समग्र दृष्टि तृतीय खण्ड हमें आत्मा और ब्रह्म के तत्वों की गहरी समझ देता है, ओम् ध्यान के माध्यम से साधना का मार्ग दिखाता है, पंचकोशों के द्वारा मानव अस्तित्व की परतों को खोलता है और अंत में साक्षात्कार विद्या द्वारा आत्मा-ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव कराता है। इस प्रकार यह खण्ड साधक को केवल ज्ञान ही नहीं, बल्कि अनुभव और आत्मानुभूति की ओर अग्रसर करता है।



इकाई संरचना

- 7.1 ऐतरेय उपनिषद का परिचय और महत्व
- 7.2 ऐतरेय उपनिषद की संरचना और विभाजन
- 7.3 सृष्टि की उत्पत्ति – ब्रह्म से जगत की रचना
- 7.4 पञ्चीकरण सिद्धान्त और पंच महाभूत
- 7.5 जीव की उत्पत्ति और शरीर में प्रवेश
- 7.6 आत्मा का स्वरूप और विशेषताएँ
- 7.7 ब्रह्म की अवधारणा और स्वरूप
- 7.8 ब्रह्माण्ड की संरचना और व्यवस्था
- 7.9 आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध
- 7.10 ऐतरेय उपनिषद का दार्शनिक योगदान
- 7.11 बोध प्रश्न

7.1 ऐतरेय उपनिषद का परिचय और महत्व

ऐतरेय उपनिषद ऋग्वेद से सम्बन्धित एक प्राचीन और महत्वपूर्ण उपनिषद है। यह ऐतरेय आरण्यक के अन्तर्गत आता है और इसका नाम महर्षि ऐतरेय से लिया गया है। महर्षि ऐतरेय ऋग्वेद के प्रसिद्ध ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता भी माने जाते हैं। यह उपनिषद अत्यंत संक्षिप्त है और इसमें केवल तीन अध्याय हैं, परन्तु इसकी गहराई और दार्शनिक महत्व अपार है। ऐतरेय उपनिषद का मुख्य विषय सृष्टि की उत्पत्ति, आत्मा का स्वरूप और ब्रह्म की अवधारणा है। यह उपनिषद बहुत ही सरल और स्पष्ट भाषा में गूढ़ दार्शनिक सत्यों को प्रस्तुत करता है।

ऐतरेय उपनिषद का सबसे महत्वपूर्ण योगदान सृष्टि की उत्पत्ति का विवरण है। यह उपनिषद बताता है कि किस प्रकार एकमात्र ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत की रचना हुई। प्रारम्भ में केवल आत्मा था, और उसी आत्मा ने संकल्प किया कि मैं अनेक हो जाऊँ, मैं उत्पन्न हो जाऊँ। इस संकल्प से ही सम्पूर्ण सृष्टि की रचना प्रारम्भ हुई। यह विवरण अत्यंत काव्यात्मक और दार्शनिक है। ऐतरेय उपनिषद यह भी बताता है कि किस प्रकार पंच महाभूत – आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी – की उत्पत्ति हुई और फिर इनसे समस्त जीव जगत की रचना हुई।

इस उपनिषद का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू आत्मा के स्वरूप का विवेचन है। ऐतरेय उपनिषद स्पष्ट रूप से कहता है कि प्रज्ञानं ब्रह्म – प्रज्ञान ही ब्रह्म है। यह महावाक्य भारतीय दर्शन के चार प्रमुख महावाक्यों



में से एक है। प्रज्ञान का अर्थ है चेतना या ज्ञान। यह उपनिषद बताता है कि जो चेतना हमारे भीतर है, वही ब्रह्म है। आत्मा केवल एक निष्क्रिय तत्व नहीं है, बल्कि यह सक्रिय चेतना है जो सब कुछ जानती है, सब कुछ देखती है। ऐतरेय उपनिषद में आत्मा को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझाया गया है — शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक।

ऐतरेय उपनिषद का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि यह ऋग्वेद से सम्बन्धित है, जो वेदों में सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद मुख्यतः स्तुति और प्रार्थना का संग्रह है, परन्तु ऐतरेय उपनिषद उसी परम्परा से निकलकर गहन दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत करता है। यह दर्शाता है कि वैदिक साहित्य केवल कर्मकाण्ड तक सीमित नहीं था, बल्कि उसमें गहरी दार्शनिक चिन्तन की परम्परा भी थी। आदि शंकराचार्य ने ऐतरेय उपनिषद पर अपनी विस्तृत टीका लिखी, जिससे इस उपनिषद को और भी प्रसिद्धि मिली। शंकराचार्य ने इस उपनिषद के आधार पर अद्वैत वेदान्त के अनेक सिद्धान्तों को स्थापित किया।

ऐतरेय उपनिषद की शिक्षाएँ आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं जितनी हजारों वर्ष पहले थीं। यह उपनिषद हमें बताता है कि मनुष्य केवल शरीर नहीं है, बल्कि वह आत्मा है जो अमर और शाश्वत है। यह उपनिषद हमें यह भी सिखाता है कि सम्पूर्ण जगत एक ही ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और इसलिए सभी प्राणी एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। जब हम इस एकत्व को समझ लेते हैं, तो हमारा जीवन परिवर्तित हो जाता है। हम अधिक करुणामय, प्रेमपूर्ण और शांत हो जाते हैं। ऐतरेय उपनिषद केवल एक धार्मिक ग्रन्थ नहीं है, बल्कि यह जीवन जीने की एक दृष्टि प्रदान करता है।

7.2 ऐतरेय उपनिषद की संरचना और विभाजन

ऐतरेय उपनिषद की संरचना अत्यंत सुव्यवस्थित और तार्किक है। इस उपनिषद में कुल तीन अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय एक विशिष्ट विषय को समर्पित है। पहला अध्याय सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करता है, दूसरा अध्याय आत्मा के शरीर में प्रवेश और पुनर्जन्म का विवेचन करता है, और तीसरा अध्याय आत्मा के स्वरूप और ब्रह्म के साथ उसकी एकता का प्रतिपादन करता है। यह क्रमबद्धता उपनिषद की एक विशेषता है। पहले बाहरी जगत (सृष्टि), फिर व्यक्तिगत जीव (जीवात्मा), और अंत में परम सत्य (ब्रह्म) — यह क्रम पाठक को धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म की ओर, बाहर से भीतर की ओर ले जाता है।

प्रथम अध्याय में तीन खण्ड हैं। पहले खण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। यह बताया गया है कि किस प्रकार ब्रह्म ने लोकों की रचना की — अम्भः (जल लोक), मरीचि (प्रकाश लोक), मर (मृत्यु लोक) और आपः (जल)। दूसरे खण्ड में इन्द्रियों की रचना और उनके देवताओं का वर्णन है। तीसरे खण्ड में मनुष्य की रचना और आत्मा के शरीर में प्रवेश का विवरण है। यह वर्णन अत्यंत रोचक है और दर्शाता है कि किस प्रकार ब्रह्म ने पहले जगत बनाया, फिर उसके पालक (देवता) बनाए, और अंत में उन देवताओं के लिए भोजन (अन्न) की व्यवस्था की। यह सम्पूर्ण सृष्टि एक सुव्यवस्थित योजना के अनुसार रची गई है।



द्वितीय अध्याय में भी तीन खण्ड हैं। इस अध्याय का विषय कुछ जटिल है और यह जीव के जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म से सम्बन्धित है। पहले खण्ड में गर्भ में जीव की स्थिति और उसके विकास का वर्णन है। दूसरे खण्ड में पिता से पुत्र में आत्मा के संक्रमण का वर्णन है। यह एक महत्वपूर्ण अवधारणा है जो बताती है कि पिता अपने पुत्र में पुनर्जीवित होता है। तीसरे खण्ड में विभिन्न ऋषियों के उदाहरण दिए गए हैं जिन्होंने आत्मा के इस स्वरूप को समझा और उसका अनुभव किया। यह अध्याय दर्शाता है कि जीवन एक निरन्तर प्रवाह है और मृत्यु केवल एक संक्रमण है, अंत नहीं।

तृतीय अध्याय ऐतरेय उपनिषद का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। इसमें पाँच खण्ड हैं और यह आत्मा के स्वरूप का गहन विवेचन प्रस्तुत करता है। पहले खण्ड में प्रश्न उठाया गया है — को अयमात्मा — यह आत्मा कौन है? यह प्रश्न सम्पूर्ण उपनिषद का केन्द्रीय प्रश्न है। फिर उत्तर दिया जाता है कि आत्मा वह है जिससे हम देखते हैं, सुनते हैं, सूँघते हैं, बोलते हैं और आनन्द—अनानन्द को पहचानते हैं। दूसरे खण्ड में आत्मा को हृदय या चित्त के रूप में वर्णित किया गया है। तीसरे खण्ड में प्रज्ञान या चेतना को आत्मा का सार बताया गया है। चौथे खण्ड में कहा गया है कि यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है। पाँचवें खण्ड में यह विवेचन किया गया है कि यह आत्मा ही सब कुछ का कर्ता, भोक्ता और नियन्ता है।

ऐतरेय उपनिषद की संरचना की एक विशेषता यह है कि यह क्रमिक रूप से आपको विषय की गहराई में ले जाता है। पहला अध्याय बाहरी सृष्टि से शुरू करता है, दूसरा अध्याय व्यक्तिगत जीवन की प्रक्रिया को समझाता है, और तीसरा अध्याय आत्मा के परम स्वरूप का प्रकाशन करता है। यह क्रम शिक्षण की दृष्टि से अत्यंत प्रभावी है। उपनिषद पहले ज्ञात से अज्ञात की ओर ले जाता है, स्थूल से सूक्ष्म की ओर। इस प्रकार की संरचना दर्शाती है कि वैदिक ऋषियों को न केवल दार्शनिक ज्ञान था, बल्कि उन्हें यह भी ज्ञात था कि किस प्रकार उस ज्ञान को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया जाए। ऐतरेय उपनिषद की यह सुव्यवस्थित संरचना इसे अध्ययन और अध्यापन के लिए एक आदर्श ग्रन्थ बनाती है।

7.3 सृष्टि की उत्पत्ति – ब्रह्म से जगत की रचना

ऐतरेय उपनिषद का पहला अध्याय सृष्टि की उत्पत्ति का एक विस्तृत और काव्यात्मक विवरण प्रस्तुत करता है। इस विवरण के अनुसार, सृष्टि से पूर्व केवल आत्मा था — एकमेवाद्वितीय, अर्थात् एक और अद्वितीय। यह आत्मा ही परब्रह्म है। इस एक आत्मा ने संकल्प किया — बहुस्याम् प्रजायेय — मैं अनेक हो जाऊँ, मैं संतान उत्पन्न करूँ। यह संकल्प ही सृष्टि का मूल कारण है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सृष्टि किसी बाहरी आवश्यकता या प्रयोजन से नहीं, बल्कि ब्रह्म की स्वतन्त्र इच्छा से हुई। यह ब्रह्म की लीला है, उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। जैसे कलाकार अपनी रचनात्मकता को व्यक्त करता है, वैसे ही ब्रह्म सृष्टि की रचना करता है।

इस संकल्प के बाद ब्रह्म ने तप किया। तप का अर्थ यहाँ शारीरिक तपस्या नहीं है, बल्कि यह एक प्रकार की सृजनात्मक ऊर्जा या चिन्तन है। इस तप से सबसे पहले जल की उत्पत्ति हुई। फिर जल से अन्य तत्वों की रचना हुई। उपनिषद कहता है कि ब्रह्म ने लोकों की सृष्टि की — अम्भः (आकाश या ऊपरी



लोक), मरीचि (अन्तरिक्ष या मध्य लोक), मर (पृथ्वी या नीचे का लोक) और आपः (जल जो पृथ्वी के नीचे है)। ये चार लोक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करते हैं। अम्भः वह लोक है जो आकाश से परे है, मरीचि प्रकाश का लोक है जो सूर्य और तारों का स्थान है, मर वह लोक है जहाँ मृत्यु है अर्थात् पृथ्वी, और आपः वह जल है जो सब कुछ को धारण करता है।

लोकों की सृष्टि के बाद ब्रह्म ने लोकपालों की रचना की। उसने इन लोकों से पुरुष को निकाला और उसे तपाया। जब यह पुरुष तप्त हुआ, तो उससे मुख निकला और मुख से वाक्-इन्द्रिय और वाक् से अग्नि देवता। इसी प्रकार नासिका से प्राण और प्राण से वायु, नेत्रों से चक्षु और चक्षु से सूर्य, कानों से श्रोत्र और श्रोत्र से दिशाएँ, त्वचा से रोम और रोम से ओषधि-वनस्पति, हृदय से मन और मन से चन्द्रमा, नाभि से अपान और अपान से मृत्यु, और लिंग से वीर्य और वीर्य से जल — इस प्रकार विभिन्न इन्द्रियों और उनके देवताओं की उत्पत्ति हुई। यह वर्णन दर्शाता है कि सम्पूर्ण जगत एक व्यवस्थित योजना के अनुसार रचा गया है।

इन देवताओं ने जन्म लेते ही अपने-अपने स्थान ग्रहण किए। अग्नि वाक् में प्रवेश कर गया, वायु प्राण में, सूर्य नेत्रों में, दिशाएँ कानों में, ओषधि-वनस्पति त्वचा में, चन्द्रमा मन में, मृत्यु अपान में और जल वीर्य में। परन्तु ये देवता भूख और प्यास से व्याकुल हो गए और उन्होंने ब्रह्म से कहा — हमारे लिए एक स्थान निर्धारित करो जहाँ स्थित होकर हम अन्न खा सकें। यह वर्णन अत्यंत प्रतीकात्मक है। इन्द्रियाँ और देवता केवल तभी कार्य कर सकते हैं जब उन्हें आधार मिले। वह आधार है शरीर। इसलिए ब्रह्म ने विभिन्न जीवों की रचना की — पहले गाय, फिर अश्व, परन्तु देवताओं ने इन्हें अपर्याप्त पाया। अंत में ब्रह्म ने मनुष्य की रचना की और कहा — यह सुन्दर है। देवताओं ने प्रसन्न होकर इस मनुष्य शरीर में प्रवेश किया।

इस सृष्टि विवरण का गहरा दार्शनिक अर्थ है। यह बताता है कि सम्पूर्ण सृष्टि एक ही स्रोत से निकली है और इसलिए मूलतः एक है। विविधता केवल प्रकट रूप में है, वास्तविकता में सब कुछ ब्रह्म ही है। यह विवरण यह भी दर्शाता है कि मनुष्य शरीर सर्वोत्तम शरीर है क्योंकि इसमें सभी इन्द्रियाँ और देवता पूर्ण रूप से कार्य कर सकते हैं। मनुष्य योनि ही वह योनि है जिसमें आत्म-साक्षात्कार सम्भव है। ऐतरेय उपनिषद का यह सृष्टि विवरण केवल एक पौराणिक कथा नहीं है, बल्कि यह गहरे आध्यात्मिक और दार्शनिक सत्यों को प्रतीकात्मक भाषा में प्रस्तुत करता है। यह विवरण हमें याद दिलाता है कि हम सब ब्रह्म की संतान हैं और अंततः उसी में विलीन हो जाएँगे।

बोध प्रश्न

1. ऐतरेय उपनिषद में वर्णित सृष्टि की उत्पत्ति का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. प्रज्ञानं ब्रह्म महावाक्य का क्या अर्थ है? इसके दार्शनिक महत्व को समझाइए।
3. ऐतरेय उपनिषद के अनुसार आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।
4. पंच महाभूतों की उत्पत्ति और उनके परस्पर सम्बन्ध का वर्णन कीजिए।



5. ऐतरेय उपनिषद में वर्णित ब्रह्माण्ड की संरचना और व्यवस्था का विस्तार से विवेचन कीजिए।

7.4 पञ्चीकरण सिद्धान्त और पंच महाभूत

ऐतरेय उपनिषद में पंच महाभूतों — आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी — की उत्पत्ति और उनके परस्पर सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। यद्यपि इस उपनिषद में पञ्चीकरण शब्द का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है, परन्तु पंच महाभूतों की रचना का जो विवरण दिया गया है, वह पञ्चीकरण के सिद्धान्त की नींव रखता है। पञ्चीकरण का अर्थ है पाँच तत्वों का मिश्रण या संयोजन। वेदान्त दर्शन में यह माना जाता है कि स्थूल जगत की सभी वस्तुएँ इन पाँच महाभूतों के विभिन्न अनुपातों में मिश्रण से बनी हैं। प्रत्येक वस्तु में सभी पाँच तत्व होते हैं, परन्तु किसी एक तत्व की प्रधानता होती है।

पंच महाभूतों की उत्पत्ति क्रमिक रूप से होती है। सबसे पहले आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश सबसे सूक्ष्म तत्व है और इसका गुण शब्द है। आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है। वायु का गुण स्पर्श है। वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण रूप है। अग्नि से जल की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण रस है। और अंत में जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण गन्ध है। यह क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर है। आकाश सबसे सूक्ष्म है और पृथ्वी सबसे स्थूल। प्रत्येक नया तत्व पिछले तत्व के सभी गुणों को अपने में समाहित करता है और एक नया गुण जोड़ता है। इसलिए आकाश में केवल शब्द है, वायु में शब्द और स्पर्श हैं, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप हैं, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस हैं, और पृथ्वी में सभी पाँच गुण — शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध — हैं।

ये पंच महाभूत केवल भौतिक तत्व नहीं हैं, बल्कि इनका गहरा दार्शनिक और प्रतीकात्मक अर्थ भी है। आकाश विस्तार और असीमता का प्रतीक है। यह वह तत्व है जो सब कुछ को स्थान देता है। वायु गति और प्राण का प्रतीक है। यह जीवन शक्ति है जो सब कुछ को गतिशील रखती है। अग्नि प्रकाश, ऊष्मा और परिवर्तन का प्रतीक है। यह वह शक्ति है जो एक रूप को दूसरे रूप में बदलती है। जल तरलता, लचीलापन और पोषण का प्रतीक है। यह जीवन का आधार है। पृथ्वी स्थिरता, सघनता और मूर्तरूप का प्रतीक है। यह वह आधार है जिस पर सब कुछ टिका है। इस प्रकार ये पाँच तत्व सम्पूर्ण सृष्टि के विभिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

मनुष्य शरीर भी इन्हीं पंच महाभूतों से बना है। शरीर में जो खाली स्थान हैं — मुख, नासिका, कान, नेत्र, आदि — वे आकाश तत्व हैं। शरीर में जो गति है — प्राण, रक्त संचार, आदि — वह वायु तत्व है। शरीर की ऊष्मा और पाचन शक्ति अग्नि तत्व है। शरीर में जो द्रव पदार्थ हैं — रक्त, लसीका, पसीना, आदि — वे जल तत्व हैं। और शरीर की हड्डियाँ, माँस, त्वचा आदि ठोस भाग पृथ्वी तत्व हैं। इस प्रकार मनुष्य एक सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है जिसमें सम्पूर्ण जगत के तत्व समाहित हैं। जब मृत्यु होती है, तो ये पाँचों तत्व अपने-अपने मूल में लौट जाते हैं। पृथ्वी तत्व पृथ्वी में मिल जाता है, जल तत्व जल में, अग्नि तत्व अग्नि में, वायु तत्व वायु में, और आकाश तत्व आकाश में। केवल आत्मा शेष रहती है, जो इन पाँच तत्वों से परे है।



पञ्चीकरण सिद्धान्त का महत्व यह है कि यह बताता है कि भौतिक जगत और मानव शरीर में कोई मूलभूत अंतर नहीं है। दोनों एक ही तत्वों से बने हैं। यह सिद्धान्त मनुष्य को विनम्र बनाता है और उसे याद दिलाता है कि वह प्रकृति का एक अंग है, उससे पृथक् नहीं। ऐतरेय उपनिषद् यह भी बताता है कि ये पंच महाभूत केवल जड़ तत्व नहीं हैं, बल्कि इनमें चेतना भी व्याप्त है। प्रत्येक तत्व का एक देवता है जो उसका प्रतिनिधित्व करता है। यह दृष्टि प्रकृति को पवित्र और सम्मानीय बनाती है। आधुनिक युग में जब पर्यावरण संकट गहराता जा रहा है, तब पंच महाभूतों का यह दर्शन अत्यंत प्रासंगिक हो जाता है। यह हमें सिखाता है कि प्रकृति का शोषण नहीं, बल्कि उसके साथ सामंजस्य स्थापित करना चाहिए।

7.5 जीव की उत्पत्ति और शरीर में प्रवेश

ऐतरेय उपनिषद् का एक महत्वपूर्ण विषय जीव की उत्पत्ति और आत्मा का शरीर में प्रवेश है। जब ब्रह्म ने सृष्टि की रचना की, तो उसने देखा कि यह सृष्टि निर्जीव और निष्क्रिय है। इसे चेतना की आवश्यकता थी। इसलिए ब्रह्म ने सोचा कि वह स्वयं इस सृष्टि में प्रवेश करे। उपनिषद् कहता है – स ईक्षत कथमु नु इमान्यप्रविश्य स्यामिति – उसने विचार किया कि मैं किस प्रकार इन लोकों में प्रवेश करूँ। यह एक गहरा दार्शनिक प्रश्न है। ब्रह्म, जो निराकार और सर्वव्यापी है, कैसे सीमित शरीर में प्रवेश कर सकता है? यह समस्या वेदान्त दर्शन की एक केन्द्रीय समस्या है।

ऐतरेय उपनिषद् बताता है कि ब्रह्म ने मस्तक के शीर्ष भाग को विभाजित किया और उस द्वार से शरीर में प्रवेश किया। इस द्वार को विद्रति या ब्रह्मरन्ध्र कहा जाता है। यह वह स्थान है जहाँ शिशु के जन्म के समय खोपड़ी की हड्डियाँ मिली नहीं होतीं और एक मुलायम स्थान होता है। योग और तन्त्र में इसे सहस्रार चक्र का स्थान माना जाता है। ब्रह्म के इस द्वार से प्रवेश करने का प्रतीकात्मक अर्थ यह है कि चेतना सर्वोच्च स्थान से शरीर में आती है। यह भौतिक स्तर से नहीं, बल्कि आध्यात्मिक स्तर से शरीर में प्रवेश करती है। इस प्रवेश के बाद ही शरीर जीवित हो जाता है, चेतन हो जाता है।

जब आत्मा शरीर में प्रवेश करती है, तो वह तीन निवास स्थान ग्रहण करती है। उपनिषद् कहता है – तस्य त्रय आवासाः – उसके तीन निवास हैं। ये तीन निवास हैं – जाग्रत अवस्था में नेत्र (शारीरिक स्तर), स्वप्न अवस्था में मन (मानसिक स्तर), और सुषुप्ति अवस्था में हृदय (कारण स्तर)। यह विवरण माण्डूक्य उपनिषद् के चेतना की तीन अवस्थाओं के सिद्धान्त से मेल खाता है। आत्मा इन तीनों स्थानों में विभिन्न रूपों में प्रकट होती है, परन्तु मूलतः वह एक ही रहती है। जाग्रत में वह बाहरी जगत से जुड़ी होती है, स्वप्न में अन्तर्जगत से, और सुषुप्ति में अपने मूल स्वरूप में विश्राम करती है।

7.6 आत्मा का स्वरूप और विशेषताएँ

ऐतरेय उपनिषद् यह भी बताता है कि जन्म की प्रक्रिया कैसे होती है। जब शुक्र और रज का मिलन होता है, तो गर्भ की स्थापना होती है। नौ या दस महीनों में गर्भ विकसित होता है और फिर जीव का जन्म होता है। जन्म के समय जीव रोता है क्योंकि वह गर्भ की सुरक्षित स्थिति से बाहर के कठोर जगत में आता है। यह वर्णन अत्यंत मानवीय और मार्मिक है। उपनिषद् यह भी कहता है कि जीव अपने पूर्व जन्मों



को भूल जाता है, परन्तु उसके संस्कार उसके साथ रहते हैं। ये संस्कार ही उसके स्वभाव, रुचि और जीवन की दिशा को निर्धारित करते हैं।

ऐतरेय उपनिषद में एक सुंदर उपमा दी गई है — पिता अपने पुत्र में पुनर्जीवित होता है। जैसे पिता अपने ज्ञान, अनुभव और संस्कारों को पुत्र को देता है, वैसे ही आत्मा भी एक शरीर से दूसरे शरीर में संक्रमित होती है, अपने संस्कार और कर्मों को साथ लेकर। यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त है। मृत्यु के समय आत्मा शरीर को छोड़ देती है और फिर अपने कर्मों के अनुसार नया शरीर ग्रहण करती है। यह चक्र तब तक चलता रहता है जब तक आत्म-ज्ञान नहीं हो जाता। जब व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, तो यह जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है। ऐतरेय उपनिषद का यह विवरण जीवन की निरन्तरता और आत्मा की अमरता को स्थापित करता है।

ऐतरेय उपनिषद का तीसरा अध्याय आत्मा के स्वरूप का गहन विवेचन प्रस्तुत करता है। यह अध्याय एक महत्वपूर्ण प्रश्न से प्रारम्भ होता है — को अयमात्मा यमिदमुपास्महे, कतर एष आत्मा — यह आत्मा कौन है जिसकी हम उपासना करते हैं, यह आत्मा कौन सी है? यह प्रश्न सम्पूर्ण उपनिषद का केन्द्रीय प्रश्न है और सभी आध्यात्मिक खोज का मूल है। जब तक हम नहीं जानते कि मैं कौन हूँ, तब तक हम अज्ञान में रहते हैं। आत्म-ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है और यही मोक्ष का मार्ग है।

उपनिषद आत्मा को विभिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषित करता है। पहले यह कहा जाता है कि आत्मा वह है जिसके द्वारा हम देखते हैं, सुनते हैं, सूँघते हैं, स्वाद लेते हैं और बोलते हैं। आत्मा वह चेतना है जो सभी इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करती है। इन्द्रियाँ स्वयं जड़ हैं; वे आत्मा के बिना कार्य नहीं कर सकतीं। जैसे बिजली के बिना यन्त्र नहीं चल सकते, वैसे ही आत्मा के बिना इन्द्रियाँ निष्क्रिय हैं। परन्तु आत्मा केवल इन्द्रियों का संचालक नहीं है। यह उससे भी गहरा है। आत्मा वह है जो इन्द्रियों के अनुभवों को जानती है। जब हम कहते हैं मैं देख रहा हूँ, तो यह मैं आत्मा है।

दूसरा परिभाषा में आत्मा को हृदय या चित्त के रूप में वर्णित किया गया है। उपनिषद कहता है — शतदेतद्धृदयम् आत्मा — यह हृदय ही आत्मा है। यहाँ हृदय का अर्थ भौतिक हृदय नहीं है, बल्कि चेतना का केन्द्र है। संस्कृत में अनेक शब्दों द्वारा आत्मा को इंगित किया गया है — संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम, वश इत्यादि। ये सभी शब्द चेतना के विभिन्न पहलुओं को दर्शाते हैं — ज्ञान, विवेक, स्मरण, संकल्प, इच्छा, नियन्त्रण आदि। यह दर्शाता है कि आत्मा बहुआयामी है और उसे एक शब्द में परिभाषित नहीं किया जा सकता।

तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण परिभाषा में कहा गया है — प्रज्ञानं ब्रह्म — प्रज्ञान ही ब्रह्म है। यह ऐतरेय उपनिषद का महावाक्य है। प्रज्ञान का अर्थ है शुद्ध चेतना या शुद्ध ज्ञान। यह वह चेतना है जो सभी अनुभवों का आधार है, परन्तु स्वयं किसी अनुभव में सीमित नहीं है। यह वह ज्ञान है जो सब कुछ जानता है, परन्तु स्वयं किसी का विषय नहीं है। प्रज्ञान आत्मा का सार है और यही ब्रह्म है। यह कथन आत्मा और ब्रह्म की एकता को स्थापित करता है। जीवात्मा और परमात्मा में कोई मूलभूत भेद नहीं है। दोनों एक ही चेतना के दो नाम हैं।



ऐतरेय उपनिषद आत्मा की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ बताता है। पहली, आत्मा अमर है। शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु आत्मा शाश्वत है। दूसरी, आत्मा सर्वव्यापी है। यद्यपि यह प्रत्येक व्यक्ति में अलग प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में यह एक ही है। तीसरी, आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है – सत् (सत्य), चित् (चेतना) और आनन्द। चौथी, आत्मा कर्ता, भोक्ता और साक्षी – सब कुछ है। पाँचवीं, आत्मा ज्ञान का स्रोत है। सभी ज्ञान आत्मा से ही निकलता है। ये विशेषताएँ आत्मा की महिमा को दर्शाती हैं और हमें याद दिलाती हैं कि हम केवल नश्वर शरीर नहीं, बल्कि अमर आत्मा हैं।

बोध प्रश्न

1. ऐतरेय उपनिषद किस वेद से सम्बन्धित है?
 - (अ) सामवेद
 - (ब) ऋग्वेद
 - (स) यजुर्वेद
 - (द) अथर्ववेद
2. ऐतरेय उपनिषद में कुल कितने अध्याय हैं?
 - (अ) दो
 - (ब) तीन
 - (स) चार
 - (द) पाँच
3. ऐतरेय उपनिषद का महावाक्य क्या है?
 - (अ) तत्त्वमसि
 - (ब) अहं ब्रह्मास्मि
 - (स) प्रज्ञानं ब्रह्म
 - (द) अयमात्मा ब्रह्म
4. सृष्टि से पूर्व क्या था?
 - (अ) शून्य
 - (ब) केवल आत्मा
 - (स) अनेक देवता
 - (द) अन्धकार
5. पंच महाभूतों में सबसे सूक्ष्म तत्व कौन सा है?
 - (अ) वायु
 - (ब) अग्नि
 - (स) आकाश



- (द) जल
6. ब्रह्म ने शरीर में किस स्थान से प्रवेश किया?
- (अ) हृदय
(ब) नाभि
(स) मस्तक के शीर्ष
(द) पैर
7. आत्मा के कितने निवास स्थान बताए गए हैं?
- (अ) दो
(ब) तीन
(स) चार
(द) पाँच
8. पृथ्वी तत्व का गुण क्या है?
- (अ) शब्द
(ब) स्पर्श
(स) रूप
(द) गन्ध
9. ब्रह्म के शरीर में प्रवेश द्वार को क्या कहा जाता है?
- (अ) सुषुम्ना
(ब) ब्रह्मरन्ध्र
(स) आज्ञा चक्र
(द) मूलाधार
10. बहुस्याम् प्रजायेय का क्या अर्थ है?
- (अ) मैं एक हूँ
(ब) मैं अनेक हो जाऊँ
(स) मैं नष्ट हो जाऊँ
(द) मैं स्थिर हूँ

7.7 ब्रह्म की अवधारणा और स्वरूप

ऐतरेय उपनिषद् में ब्रह्म की अवधारणा अत्यंत स्पष्ट और गहरी है। ब्रह्म वह परम सत्य है जो सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण है। यह न तो सृष्टि से पहले था, न सृष्टि के साथ है, और न सृष्टि के बाद होगा — यह सदा है, शाश्वत है। ब्रह्म काल और स्थान से परे है। यह न तो जन्म लेता है और न मरता है। यह अपरिवर्तनशील है, फिर भी सम्पूर्ण परिवर्तन इसी से होता है। यह निराकार है, फिर भी सभी आकार



इसी में हैं। यह गुणातीत है, फिर भी सभी गुण इसी की अभिव्यक्ति हैं। ऐसी विरोधाभासी विशेषताओं से युक्त ब्रह्म को शब्दों में व्यक्त करना कठिन है, परन्तु उपनिषद अनेक प्रकार से इसे समझाने का प्रयास करता है।

ऐतरेय उपनिषद ब्रह्म को सृष्टिकर्ता के रूप में प्रस्तुत करता है। ब्रह्म ने तप किया और उस तप से सृष्टि की रचना हुई। यह तप भौतिक तपस्या नहीं है, बल्कि यह ब्रह्म की सृजनात्मक शक्ति है। ब्रह्म ने संकल्प किया — मैं अनेक हो जाऊँ — और यह संकल्प ही सृष्टि का बीज बन गया। यह दर्शाता है कि सृष्टि ब्रह्म की इच्छा से हुई, किसी आवश्यकता या बाध्यता से नहीं। ब्रह्म पूर्ण है और उसे किसी चीज की आवश्यकता नहीं। सृष्टि उसकी लीला है, उसका खेल है। जैसे कलाकार अपनी प्रतिभा को व्यक्त करने के लिए कला की रचना करता है, वैसे ही ब्रह्म अपनी शक्ति को व्यक्त करने के लिए सृष्टि की रचना करता है।

ब्रह्म केवल सृष्टिकर्ता नहीं है, बल्कि वह सृष्टि में भी व्याप्त है। जब ब्रह्म ने सृष्टि की रचना की, तो उसने स्वयं सृष्टि में प्रवेश किया। यह प्रवेश आत्मा के रूप में है। प्रत्येक जीव में जो चेतना है, वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापी है। वह केवल आकाश में या किसी विशेष स्थान पर नहीं है, बल्कि वह सर्वत्र है। वह कण-कण में व्याप्त है। जैसे एक धागा माला के सभी मोतियों को पिरोए रखता है, वैसे ही ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् को धारण किए हुए है। यह अद्वैत का मूल सिद्धान्त है — ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं है, जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है।

ऐतरेय उपनिषद ब्रह्म को प्रज्ञान के रूप में भी परिभाषित करता है। प्रज्ञानं ब्रह्म — यह महावाक्य बताता है कि ब्रह्म चेतना है, ज्ञान है। यह वह ज्ञान है जो सब कुछ जानता है। यह सर्वज्ञ है। इस जगत् में जो कुछ भी घटित होता है, वह सब ब्रह्म की चेतना में है। कोई भी घटना, कोई भी विचार, कोई भी भावना ब्रह्म से छिपी नहीं है। ब्रह्म अन्तर्यामी है, सबके भीतर बैठा साक्षी है। परन्तु यह ज्ञान साधारण बौद्धिक ज्ञान नहीं है। यह शुद्ध चेतना है, शुद्ध अस्तित्व है। जैसे प्रकाश स्वयं को प्रकाशित करता है और दूसरी वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है, वैसे ही ब्रह्म स्वयं चेतन है और सब कुछ को चेतना प्रदान करता है।

ब्रह्म का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह आनन्दस्वरूप है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है — सत् (सत्य), चित् (चेतना) और आनन्द। यह आनन्द सांसारिक सुख से भिन्न है। सांसारिक सुख क्षणिक है, बाहरी विषयों पर निर्भर है, और उसके बाद दुःख आता है। परन्तु ब्रह्म का आनन्द शाश्वत है, स्वतः पूर्ण है, और किसी विषय पर निर्भर नहीं है। यह वह आनन्द है जो सुषुप्ति में भी अनुभव होता है, जब कोई बाहरी विषय नहीं होता। ब्रह्म का यह आनन्द समस्त सुखों का स्रोत है। जब व्यक्ति ब्रह्म को जान लेता है, तो वह इस परम आनन्द को प्राप्त करता है और फिर उसे किसी बाहरी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वयं में पूर्ण हो जाता है। ऐतरेय उपनिषद का यह ब्रह्म विवेचन आध्यात्मिक जीवन का आधार है।

7.8 ब्रह्माण्ड की संरचना और व्यवस्था



ऐतरेय उपनिषद में ब्रह्माण्ड की संरचना का एक सुव्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया गया है। उपनिषद बताता है कि ब्रह्म ने सबसे पहले लोकों की रचना की। ये लोक विभिन्न स्तरों या आयामों का प्रतिनिधित्व करते हैं। चार मुख्य लोकों का उल्लेख है — अम्भः, मरीचि, मर और आपः। अम्भः सबसे ऊपरी लोक है, जो आकाश से भी परे है। यह दिव्य लोक है जहाँ देवता निवास करते हैं। मरीचि मध्य लोक है, जो प्रकाश से भरा है। यहाँ सूर्य, चन्द्रमा और तारे स्थित हैं। मर पृथ्वी लोक है जहाँ मनुष्य और अन्य प्राणी रहते हैं। और आपः सबसे नीचे का लोक है, जो जल से युक्त है। ये चार लोक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की संरचना को दर्शाते हैं।

प्रत्येक लोक के अपने नियम और व्यवस्था हैं। अम्भः लोक में समय की गति भिन्न है। यहाँ एक दिन पृथ्वी के कई वर्षों के बराबर हो सकता है। मरीचि लोक में प्रकाश की प्रधानता है और यहाँ अन्धकार नहीं है। मर लोक में जन्म और मृत्यु का चक्र चलता है। यह कर्म और उसके फलों का लोक है। आपः लोक सृष्टि का आधार है, जहाँ से सब कुछ उत्पन्न होता है। ये चारों लोक परस्पर सम्बन्धित हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। जो ऊपर के लोकों में होता है, उसका प्रभाव नीचे के लोकों पर पड़ता है। इसी प्रकार नीचे के कर्म ऊपर के लोकों तक पहुँचते हैं।

ब्रह्माण्ड की संरचना में देवताओं का महत्वपूर्ण स्थान है। ऐतरेय उपनिषद बताता है कि जब ब्रह्म ने लोकों की रचना की, तो उसने लोकपालों की भी रचना की। ये लोकपाल विभिन्न देवता हैं जो प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अग्नि देवता वाक् (वाणी) के देवता हैं, वायु देवता प्राण के देवता हैं, सूर्य देवता चक्षु (दृष्टि) के देवता हैं, दिशाएँ श्रोत्र (श्रवण) के देवता हैं, ओषधि और वनस्पतियाँ त्वचा (स्पर्श) के देवता हैं, चन्द्रमा मन का देवता है, मृत्यु अपान का देवता है, और जल वीर्य का देवता है। ये देवता केवल पौराणिक कथाओं के पात्र नहीं हैं, बल्कि ये प्रकृति की मूलभूत शक्तियों के प्रतीक हैं। ब्रह्माण्ड की व्यवस्था में संतुलन का बहुत महत्व है। ऐतरेय उपनिषद बताता है कि ब्रह्म ने जब देवताओं की रचना की, तो उन्हें भोजन की आवश्यकता थी। इसलिए ब्रह्म ने अन्न की रचना की। अन्न जीवन का आधार है। बिना अन्न के कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। यह अन्न पृथ्वी से उत्पन्न होता है, वर्षा से पोषित होता है, और सूर्य के प्रकाश से परिपक्व होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक चक्र के रूप में कार्य करता है। सूर्य ऊष्मा देता है, समुद्र से जल वाष्प बनता है, बादल बनते हैं, वर्षा होती है, पृथ्वी पर अन्न उत्पन्न होता है, प्राणी उसे खाते हैं, और फिर यह चक्र दोबारा शुरू होता है। यह चक्र निरन्तर चलता रहता है और इसी से जीवन संभव है।

ऐतरेय उपनिषद यह भी बताता है कि ब्रह्माण्ड में सब कुछ परस्पर निर्भर है। कोई भी तत्व स्वतन्त्र नहीं है। पृथ्वी वायु पर निर्भर है, वायु आकाश पर, आकाश ब्रह्म पर। इसी प्रकार सभी जीव एक-दूसरे पर निर्भर हैं। मनुष्य पशुओं पर निर्भर है, पशु पौधों पर, पौधे पृथ्वी पर, पृथ्वी जल पर, और अंततः सब कुछ ब्रह्म पर निर्भर है। यह दृष्टि पारिस्थितिकी की आधुनिक अवधारणा से मेल खाती है। यह हमें सिखाती है कि हमें प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाए रखना चाहिए, क्योंकि हम सब एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। जब हम प्रकृति को नुकसान पहुँचाते हैं, तो वास्तव में हम स्वयं को ही नुकसान पहुँचाते हैं।



ब्रह्माण्ड की संरचना में व्यवस्था और नियम का पालन अनिवार्य है। ऋत की अवधारणा वैदिक साहित्य में महत्वपूर्ण है। ऋत वह नियम है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्यवस्थित रखता है। सूर्य और चन्द्रमा निर्धारित समय पर उदय होते हैं, ऋतुएँ क्रम से आती हैं, रात के बाद दिन आता है — यह सब ऋत के कारण है। मनुष्य को भी इस ऋत का पालन करना चाहिए। जब मनुष्य ऋत का उल्लंघन करता है, तो अव्यवस्था और दुःख उत्पन्न होता है। ऐतरेय उपनिषद की यह शिक्षा आज भी प्रासंगिक है। आधुनिक युग में जब मनुष्य प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करता है, तब पर्यावरण संकट उत्पन्न होता है। ऐतरेय उपनिषद हमें याद दिलाता है कि ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का सम्मान करना हमारा कर्तव्य है।

बोध प्रश्न

1. आत्मा के स्वरूप और विशेषताओं का ऐतरेय उपनिषद के आधार पर वर्णन कीजिए।
 2. ऐतरेय उपनिषद का भारतीय दर्शन के विकास में क्या योगदान है? विस्तार से लिखिए।
 3. जीव की उत्पत्ति और शरीर में आत्मा के प्रवेश की प्रक्रिया को ऐतरेय उपनिषद के अनुसार समझाइए।
 4. ऐतरेय उपनिषद की संरचना और विभाजन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
 5. ब्रह्म के सृष्टिकर्ता रूप को ऐतरेय उपनिषद किस प्रकार प्रस्तुत करता है?
 6. पञ्चीकरण सिद्धान्त क्या है? संक्षेप में समझाइए।
-

7.9 आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध

ऐतरेय उपनिषद का सबसे महत्वपूर्ण योगदान आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध का प्रतिपादन है। यह उपनिषद स्पष्ट रूप से कहता है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। जो चेतना व्यक्ति के भीतर है, वही चेतना सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है। व्यक्तिगत आत्मा (जीवात्मा) और सार्वभौमिक आत्मा (परमात्मा या ब्रह्म) में कोई मूलभूत भेद नहीं है। यह भेद केवल अज्ञान के कारण प्रतीत होता है। जब ज्ञान होता है, तो यह भेद समाप्त हो जाता है और व्यक्ति अनुभव करता है कि अहं ब्रह्मास्मि — मैं ब्रह्म हूँ। यह अद्वैत वेदान्त का मूल सिद्धान्त है और ऐतरेय उपनिषद इसे अत्यंत स्पष्टता से प्रस्तुत करता है।

आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध को समझने के लिए ऐतरेय उपनिषद अनेक उपमाएँ प्रस्तुत करता है। एक उपमा यह है कि जैसे एक सागर में अनेक लहरें उठती हैं, परन्तु सभी लहरें जल की ही हैं, वैसे ही ब्रह्म में अनेक जीवात्माएँ हैं, परन्तु सब ब्रह्म की ही हैं। लहरें अलग-अलग दिखाई देती हैं — कोई बड़ी, कोई छोटी, कोई शांत, कोई उग्र — परन्तु उनका मूल तत्व एक ही है। इसी प्रकार जीवात्माएँ अलग-अलग शरीरों में, अलग-अलग परिस्थितियों में प्रतीत होती हैं, परन्तु उनका मूल स्वरूप एक ही ब्रह्म है। दूसरी उपमा यह है कि जैसे आकाश घट में, गृह में, और खुले स्थान में एक ही है — घट आकाश, गृह आकाश और महाकाश में कोई भेद नहीं है — वैसे ही आत्मा सभी शरीरों में एक ही है।

तीसरी उपमा सूर्य और उसके प्रतिबिम्ब की है। जैसे एक सूर्य अनेक जलाशयों में अनेक प्रतिबिम्ब बनाता है, परन्तु सूर्य एक ही है, वैसे ही एक ब्रह्म अनेक शरीरों में अनेक जीवात्माओं के रूप में प्रतीत होता है। प्रतिबिम्ब अलग-अलग हो सकते हैं — कुछ स्पष्ट, कुछ धुँधले, कुछ कम्पायमान — परन्तु मूल सूर्य एक ही



है। इसी प्रकार जीवात्माओं में विभिन्नता हो सकती है — कोई ज्ञानी, कोई अज्ञानी, कोई पुण्यात्मा, कोई पापी — परन्तु मूल ब्रह्म सब में एक ही है। ये उपमाएँ अत्यंत सुंदर हैं और गहरे सत्य को सरल रूप में प्रस्तुत करती हैं। ये उपमाएँ हमें यह समझने में सहायता करती हैं कि एकत्व और विविधता दोनों सत्य हैं — विविधता व्यावहारिक स्तर पर है, परन्तु एकत्व परमार्थिक स्तर पर है।

आत्मा और ब्रह्म के इस सम्बन्ध को समझने का महत्वपूर्ण निहितार्थ है। जब व्यक्ति यह जान लेता है कि वह ब्रह्म है, तो उसका सम्पूर्ण दृष्टिकोण बदल जाता है। पहले वह अपने को शरीर मानता था — एक सीमित, नश्वर, दुर्बल प्राणी। अब वह जानता है कि वह असीम, अमर, सर्वशक्तिमान ब्रह्म है। यह ज्ञान सभी भयों को समाप्त कर देता है। मृत्यु का भय, दुःख का भय, असफलता का भय — सब समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि व्यक्ति जानता है कि वह अमर है, वह आनन्दस्वरूप है, वह पूर्ण है। उसे बाहर से कुछ भी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सब कुछ उसके भीतर है। यह ज्ञान ही मोक्ष है, यही स्वतन्त्रता है।

आत्मा और ब्रह्म की एकता का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह सभी प्राणियों में समानता स्थापित करता है। जब हम जानते हैं कि सभी में एक ही आत्मा है, तो हम किसी से घृणा नहीं कर सकते, किसी को हीन नहीं समझ सकते। सभी जीव ब्रह्म के ही रूप हैं। गाय में, कुत्ते में, पेड़ में, पत्थर में भी वही ब्रह्म है। यह दृष्टि अत्यंत व्यापक और उदार है। यह हमें सिखाती है कि हमें सभी जीवों के प्रति करुणा और प्रेम का भाव रखना चाहिए। दूसरे को दुःख देना अपने को ही दुःख देना है, क्योंकि दूसरे में भी वही आत्मा है जो मुझमें है। ऐतरेय उपनिषद् का यह संदेश सार्वभौमिक बन्धुत्व और शांति का आधार है। यह संदेश आज के विभाजित और संघर्षपूर्ण विश्व में अत्यंत आवश्यक है।

बोध प्रश्न

1. आत्मा के तीन निवास स्थान कौन से हैं?
 2. ऐतरेय उपनिषद् में वर्णित चार लोकों के नाम बताइए।
 3. बहुस्याम् प्रजायेय इस संकल्प का क्या महत्व है?
 4. ब्रह्मरन्ध्र क्या है और इसका क्या महत्व है?
 5. देवताओं और इन्द्रियों के सम्बन्ध को संक्षेप में समझाइए।
 6. ऐतरेय उपनिषद् किस आरण्यक का भाग है?
-

7.10 ऐतरेय उपनिषद् का दार्शनिक योगदान

ऐतरेय उपनिषद् ने भारतीय दर्शन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह उपनिषद् अद्वैत वेदान्त के मूल सिद्धान्तों में से एक को स्थापित करता है — प्रज्ञानं ब्रह्म। यह महावाक्य बताता है कि चेतना ही परम सत्य है। भौतिक जगत, जो हमें इतना ठोस और वास्तविक प्रतीत होता है, वास्तव में चेतना की ही अभिव्यक्ति है। यह सिद्धान्त आदर्शवाद का आधार है और पश्चिमी दर्शन के अनेक विचारकों ने भी इसी



दिशा में चिन्तन किया है। ऐतरेय उपनिषद ने यह सिद्धान्त हजारों वर्ष पहले प्रस्तुत किया और इसे एक व्यावहारिक साधना पद्धति के साथ जोड़ा।

ऐतरेय उपनिषद का दूसरा महत्वपूर्ण योगदान सृष्टि सिद्धान्त है। यह उपनिषद बताता है कि सृष्टि शून्य से नहीं, बल्कि ब्रह्म से हुई। ब्रह्म सृष्टि से पहले था, सृष्टि के साथ है, और सृष्टि के बाद भी रहेगा। सृष्टि ब्रह्म का विकास या परिवर्तन नहीं है, बल्कि यह ब्रह्म की अभिव्यक्ति या प्रकटीकरण है। ब्रह्म अपरिवर्तित रहता है, परन्तु माया के कारण अनेक रूपों में दिखाई देता है। यह विवर्तवाद कहलाता है, जो परिणामवाद से भिन्न है। आदि शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त को अपने अद्वैत वेदान्त में केन्द्रीय स्थान दिया और ऐतरेय उपनिषद को इसके प्रमाण के रूप में उद्धृत किया।

तीसरा योगदान आत्मा के स्वरूप का विवेचन है। ऐतरेय उपनिषद आत्मा को केवल एक निष्क्रिय साक्षी के रूप में नहीं, बल्कि सक्रिय चेतना के रूप में प्रस्तुत करता है। आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, और साक्षी भी है। यह सभी इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करती है, सभी विचारों को संभव बनाती है, और सभी अनुभवों का आधार है। परन्तु साथ ही यह इन सबसे परे भी है। यह विरोधाभासी विशेषता आत्मा की रहस्यमयता को दर्शाती है। पश्चिमी दर्शन में चेतना और पदार्थ की समस्या एक प्रमुख समस्या है। ऐतरेय उपनिषद इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है — चेतना मूल है, पदार्थ उसकी अभिव्यक्ति है।

चौथा योगदान पुनर्जन्म और कर्म सिद्धान्त का विकास है। ऐतरेय उपनिषद बताता है कि मृत्यु अंत नहीं है, बल्कि एक संक्रमण है। आत्मा अपने कर्मों के अनुसार नया शरीर ग्रहण करती है। यह चक्र तब तक चलता रहता है जब तक आत्म-ज्ञान नहीं हो जाता। यह सिद्धान्त नैतिकता का आधार प्रदान करता है। यह बताता है कि हमारे कर्मों के परिणाम अवश्यम्भावी हैं। बुरे कर्म दुःख लाते हैं, अच्छे कर्म सुख लाते हैं। परन्तु अंतिम लक्ष्य सुख प्राप्त करना नहीं, बल्कि कर्म के बन्धन से मुक्त होना है। यह मुक्ति ज्ञान से प्राप्त होती है।

पाँचवाँ योगदान ज्ञान और अनुभव पर बल है। ऐतरेय उपनिषद केवल विश्वास या श्रद्धा पर आधारित नहीं है, बल्कि यह प्रत्यक्ष अनुभव को महत्व देता है। को अयमात्मा — यह आत्मा कौन है? — यह प्रश्न स्वयं को जानने का प्रश्न है। उपनिषद कहता है कि इस प्रश्न का उत्तर किसी बाहरी प्राधिकार से नहीं, बल्कि अपने अनुभव से मिलेगा। साधक को स्वयं अन्वेषण करना होगा, स्वयं खोजना होगा। गुरु मार्गदर्शन कर सकता है, शास्त्र दिशा बता सकता है, परन्तु अंतिम ज्ञान स्वयं के अनुभव से ही आता है। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जो भारतीय दर्शन की एक विशेषता है। ऐतरेय उपनिषद का यह योगदान आज भी प्रासंगिक है और यह उपनिषद विश्व दर्शन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

7.11 बोध प्रश्न

1. पंच महाभूतों में सबसे स्थूल तत्व कौन सा है?
2. आकाश तत्व का गुण क्या है?
3. किस तत्व में सभी पाँच गुण होते हैं?



4. प्रज्ञान शब्द का क्या अर्थ है?
5. ऐतरेय उपनिषद के सृष्टि सिद्धान्त की आधुनिक विज्ञान से तुलना कीजिए।
6. क्या आत्मा और ब्रह्म की एकता का सिद्धान्त व्यावहारिक जीवन में लागू किया जा सकता है? अपने विचार दीजिए।
7. ऐतरेय उपनिषद की शिक्षाओं का समकालीन समाज में क्या महत्व है? विवेचना कीजिए।
8. पंच महाभूतों का सिद्धान्त पर्यावरण संरक्षण से किस प्रकार सम्बन्धित है? समझाइए।
9. ऐतरेय उपनिषद में प्रस्तुत ब्रह्म की अवधारणा अन्य उपनिषदों से किस प्रकार भिन्न या समान है?
10. आत्मा के स्वरूप को समझने का व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? विश्लेषण कीजिए।
11. महर्षि ऐतरेय कौन थे?
12. ऐतरेय उपनिषद में कुल कितने खण्ड हैं?



इकाई 08

तैत्तिरीय उपनिषद्

इकाई संरचना

8.1 प्रस्तावना

- 8.1.1 तैत्तिरीय उपनिषद् का परिचय
- 8.1.2 उपनिषद् का महत्व एवं विशेषताएं

8.2 पंचकोश की अवधारणा

- 8.2.1 पंचकोश का अर्थ
- 8.2.2 अन्नमय कोश
- 8.2.3 प्राणमय कोश
- 8.2.4 मनोमय कोश
- 8.2.5 विज्ञानमय कोश
- 8.2.6 आनन्दमय कोश

8.3 शिक्षावल्ली

- 8.3.1 शिक्षावल्ली का परिचय
- 8.3.2 शिक्षा के तत्व
- 8.3.3 मुख्य शिक्षाएं

8.4 आनन्दवल्ली

- 8.4.1 आनन्दवल्ली का सार
- 8.4.2 ब्रह्मविद्या का वर्णन

8.5 भृगुवल्ली

- 8.5.1 भृगुवल्ली की कथा
- 8.5.2 तपस्या और ब्रह्मज्ञान

8.6 तैत्तिरीय उपनिषद् का समग्र संदेश

8.7 बोध प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

इस उपनिषद् की रचना का समय लगभग छठी से पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। यह वह समय था जब भारतीय दर्शन और आध्यात्मिक चिंतन अपने चरम पर था। उस समय ऋषि-मुनियों ने



गहन चिंतन और मनन के द्वारा जीवन के मूलभूत प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास किया। तैत्तिरीय उपनिषद् इसी गहन चिंतन का परिणाम है। यह उपनिषद् न केवल धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि दार्शनिक और शैक्षिक दृष्टि से भी अत्यंत मूल्यवान है।

8.1.1 तैत्तिरीय उपनिषद् का परिचय

तैत्तिरीय उपनिषद् भारतीय दर्शन के प्राचीनतम और महत्वपूर्ण ग्रंथों में से एक है। यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से संबंधित है। इस उपनिषद् का नाम तैत्तिरीय शाखा के नाम पर पड़ा है। यह शाखा महर्षि तित्तिरि के शिष्यों द्वारा अध्ययन की जाती थी, इसलिए इसे तैत्तिरीय कहा गया। यह उपनिषद् वैदिक साहित्य की अमूल्य निधि है और आध्यात्मिक ज्ञान का भंडार माना जाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में तीन मुख्य भाग हैं जिन्हें वल्ली कहा जाता है। प्रथम भाग शिक्षावल्ली है, द्वितीय भाग ब्रह्मानन्दवल्ली या आनन्दवल्ली है और तृतीय भाग भृगुवल्ली है। ये तीनों वल्लियाँ मिलकर इस उपनिषद् को एक संपूर्ण आध्यात्मिक ग्रंथ बनाती हैं। प्रत्येक वल्ली अपने आप में एक विशिष्ट शिक्षा और दर्शन को प्रस्तुत करती है। शिक्षावल्ली में वैदिक शिक्षा और उच्चारण के नियमों का वर्णन है, आनन्दवल्ली में ब्रह्मविद्या और पंचकोश की अवधारणा का विस्तृत विवेचन है, और भृगुवल्ली में भृगु ऋषि की तपस्या और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति की कथा वर्णित है।

8.1.2 उपनिषद् का महत्व एवं विशेषताएं

तैत्तिरीय उपनिषद् का महत्व अनेक कारणों से है। सर्वप्रथम, यह उपनिषद् पंचकोश की अवधारणा को प्रस्तुत करता है जो मानव व्यक्तित्व को समझने का एक वैज्ञानिक और व्यवस्थित तरीका है। पंचकोश सिद्धांत के अनुसार मनुष्य पांच आवरणों या स्तरों से बना है और इन सभी स्तरों को समझकर ही व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जान सकता है। यह अवधारणा आधुनिक मनोविज्ञान के लिए भी अत्यंत प्रासंगिक है क्योंकि यह मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक पहलुओं को एक साथ देखने का दृष्टिकोण प्रदान करती है।

इस उपनिषद् की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता इसकी शिक्षा पद्धति है। शिक्षावल्ली में गुरु-शिष्य परंपरा का सुंदर चित्रण है और यह बताया गया है कि शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं है बल्कि जीवन को समझने और जीने की कला है। यहां शिक्षा को व्यापक अर्थ में लिया गया है जिसमें ध्वनि विज्ञान, व्याकरण, नैतिक मूल्य और व्यावहारिक जीवन की शिक्षा सभी शामिल हैं। गुरु अपने शिष्यों को विदा करते समय जो उपदेश देते हैं, वे आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उस समय थे।

तीसरी विशेषता यह है कि यह उपनिषद् ब्रह्म के स्वरूप को आनन्द के रूप में प्रस्तुत करता है। आनन्दवल्ली में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और सभी प्राणी इसी आनन्द की खोज में हैं। यह दृष्टिकोण अत्यंत सकारात्मक है क्योंकि यह जीवन को दुःख और कष्ट के रूप में नहीं बल्कि आनन्द की यात्रा के रूप में देखता है। भृगुवल्ली में वर्णित भृगु की तपस्या यह दर्शाती है कि ब्रह्मज्ञान क्रमिक विकास की प्रक्रिया है और इसे धैर्य और साधना के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।



चौथी विशेषता यह है कि यह उपनिषद् सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को संतुलित रूप से प्रस्तुत करता है। एक ओर यह गहन दार्शनिक सत्यों को प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर दैनिक जीवन में उन सत्यों को कैसे लागू किया जाए, यह भी बताता है। यह उपनिषद् केवल ज्ञान के लिए ज्ञान की बात नहीं करता बल्कि ऐसे ज्ञान की बात करता है जो जीवन को परिवर्तित कर सके और व्यक्ति को उच्चतम आनन्द की ओर ले जा सके।

बोध प्रश्न

1. तैत्तिरीय उपनिषद् में कितनी वल्लियाँ हैं?
2. पंचकोश में कौन-कौन से कोश हैं?
3. दीक्षांत उपदेश किसे कहते हैं?
4. ब्रह्म के तीन लक्षण क्या हैं?
5. भृगु के पिता का क्या नाम था?

8.2 पंचकोश की अवधारणा

8.2.1 पंचकोश का अर्थ

पंचकोश का शाब्दिक अर्थ है पांच आवरण या पांच खोल। तैत्तिरीय उपनिषद् की आनन्दवल्ली में इस महत्वपूर्ण अवधारणा का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य का वास्तविक स्वरूप या आत्मा पांच परतों या आवरणों से ढकी हुई है। ये पांच कोश हैं – अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। इन पांच कोशों को समझना आत्म-साक्षात्कार की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

यह अवधारणा बहुत ही वैज्ञानिक और व्यवस्थित है। यह मनुष्य के व्यक्तित्व को स्थूल से सूक्ष्म की ओर क्रमिक रूप से समझने का तरीका प्रस्तुत करती है। सबसे बाहरी आवरण अन्नमय कोश है जो भौतिक शरीर है, और सबसे भीतरी आवरण आनन्दमय कोश है जो आत्मा के सबसे निकट है। इन पांचों कोशों के बीच का संबंध ऐसा है जैसे एक के अंदर दूसरा समाया हुआ है। प्रत्येक कोश अपने से बाहर वाले कोश से अधिक सूक्ष्म और शुद्ध है।

पंचकोश की अवधारणा यह बताती है कि मनुष्य केवल भौतिक शरीर नहीं है। वह एक बहुआयामी प्राणी है जिसमें शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सभी स्तर विद्यमान हैं। इन सभी स्तरों का संतुलित विकास ही संपूर्ण मनुष्य का विकास है। यदि कोई व्यक्ति केवल शारीरिक विकास पर ध्यान देता है और अन्य कोशों की उपेक्षा करता है, तो उसका विकास एकांगी और अपूर्ण रहेगा। इसी प्रकार यदि कोई केवल आध्यात्मिक विकास पर ध्यान देता है और शरीर की उपेक्षा करता है, तो वह भी संतुलित जीवन नहीं जी सकता।

इस अवधारणा का व्यावहारिक महत्व यह है कि यह हमें अपने विभिन्न पहलुओं को समझने और उनका संतुलित विकास करने का मार्ग दिखाती है। आधुनिक समग्र स्वास्थ्य की अवधारणा भी इसी दिशा में है



जो केवल शारीरिक स्वास्थ्य नहीं बल्कि मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य को भी महत्व देती है। पंचकोश सिद्धांत हजारों वर्ष पहले यह बात स्पष्ट कर चुका था।

8.2.2 अन्नमय कोश

अन्नमय कोश पंचकोशों में सबसे बाहरी और स्थूल कोश है। इसे भौतिक शरीर या स्थूल शरीर भी कहा जाता है। इसे अन्नमय इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह अन्न से बना है, अन्न से पोषित होता है और अंततः अन्न में ही विलीन हो जाता है। यह वह शरीर है जिसे हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और जिसका अनुभव हमारी इंद्रियां करती हैं। इसमें हमारी हड्डियां, मांसपेशियां, त्वचा, अंग—प्रत्यंग सभी शामिल हैं।

अन्नमय कोश का निर्माण माता—पिता से प्राप्त पदार्थों से होता है और जन्म के बाद इसका पोषण भोजन से होता है। यह शरीर पांच महाभूतों — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से बना है। यह जन्म लेता है, वृद्धि करता है, परिवर्तन से गुजरता है, क्षय होता है और अंत में नष्ट हो जाता है। यह षड्विकार से युक्त है — अस्ति (होना), जायते (जन्म लेना), वर्धते (बढ़ना), विपरिणमते (परिवर्तित होना), अपक्षीयते (क्षय होना) और विनश्यति (नष्ट होना)।

अन्नमय कोश हमारे भौतिक अस्तित्व का आधार है। यह हमें संसार में कर्म करने का साधन प्रदान करता है। इसी के माध्यम से हम ज्ञान प्राप्त करते हैं और अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। हालांकि यह सबसे स्थूल कोश है, लेकिन इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक स्वस्थ शरीर आध्यात्मिक साधना के लिए भी आवश्यक है। इसलिए उपनिषद् कहता है कि इस शरीर की उचित देखभाल करनी चाहिए क्योंकि यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष — चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का साधन है।

अन्नमय कोश की सीमाएं भी हैं। यह नश्वर है, परिवर्तनशील है और सीमित है। यह हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है बल्कि केवल एक उपकरण है। जो व्यक्ति अपने आप को केवल इस शरीर के साथ पहचानता है, वह भ्रम में रहता है। आत्म—साक्षात्कार के लिए इस शरीर से आगे जाना आवश्यक है, लेकिन यह यात्रा इसी शरीर के माध्यम से संभव है।

8.2.3 प्राणमय कोश

प्राणमय कोश अन्नमय कोश के भीतर स्थित है और इससे अधिक सूक्ष्म है। प्राण का अर्थ है जीवन शक्ति या जीवनी ऊर्जा। यह वह शक्ति है जो भौतिक शरीर को जीवित रखती है और उसमें गति प्रदान करती है। प्राणमय कोश पांच प्राणों से बना है — प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। ये पांच प्राण शरीर में विभिन्न कार्य संपादित करते हैं। प्राण श्वास लेने से संबंधित है, अपान उत्सर्जन से, समान पाचन से, उदान ऊर्जा को ऊपर की ओर ले जाने से, और व्यान पूरे शरीर में ऊर्जा के वितरण से संबंधित है।

इसके अतिरिक्त पांच उप—प्राण भी हैं — नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय। ये सूक्ष्म क्रियाओं से संबंधित हैं जैसे डकार आना, पलक झपकना, छींक आना आदि। प्राणमय कोश में पांच कर्मेन्द्रियां भी शामिल हैं — वाक् (बोलने की इंद्रिय), पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (उत्सर्जन अंग) और उपस्थ (जनन अंग)। ये कर्मेन्द्रियां प्राण शक्ति के द्वारा ही कार्य करती हैं।



प्राणमय कोश का महत्व इसलिए है क्योंकि यह अन्नमय कोश और मनोमय कोश के बीच सेतु का काम करता है। जब तक शरीर में प्राण है, तब तक मन शरीर के साथ जुड़ा रहता है। मृत्यु के समय जब प्राण शरीर को छोड़ देते हैं, तो शरीर निष्क्रिय हो जाता है। प्राण की शक्ति ही हमें सक्रिय रखती है, हमें ऊर्जा प्रदान करती है और हमारे सभी शारीरिक कार्यों को संभव बनाती है।

योग विज्ञान में प्राणायाम के माध्यम से प्राणमय कोश को शुद्ध और शक्तिशाली बनाया जाता है। जब प्राणमय कोश स्वस्थ और संतुलित होता है, तो व्यक्ति में अधिक ऊर्जा, उत्साह और जीवंतता होती है। विभिन्न प्राणायाम विधियों के द्वारा प्राणों को नियंत्रित किया जा सकता है और उनकी शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। प्राण का संतुलन स्वास्थ्य का मूल आधार है और इसकी असंतुलन स्थिति रोगों का कारण बनती है।

8.2.4 मनोमय कोश

मनोमय कोश प्राणमय कोश से भी अधिक सूक्ष्म है और यह मन और भावनाओं का कोश है। इस कोश में मन, पांच ज्ञानेंद्रियां और उनके विषय शामिल हैं। पांच ज्ञानेंद्रियां हैं — श्रोत्र (कान), त्वक् (त्वचा), चक्षु (आंख), जिह्वा (जीभ) और घ्राण (नाक)। इन इंद्रियों के माध्यम से हम बाहरी जगत का अनुभव करते हैं। मनोमय कोश में संकल्प-विकल्प, इच्छा, भय, क्रोध, प्रेम, घृणा आदि सभी मानसिक वृत्तियां होती हैं।

मन की विशेषता यह है कि यह निरंतर चलायमान रहता है। यह एक विचार से दूसरे विचार पर तीव्र गति से जाता रहता है। मन की इस चंचलता को भगवद्गीता में भी स्वीकार किया गया है। मनोमय कोश के स्तर पर ही व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता है। हमारे विचार, भावनाएं, आदतें और संस्कार सब इसी कोश से संबंधित हैं। यह कोश हमारे दैनिक अनुभवों को प्रभावित करता है और हमारे व्यवहार को निर्धारित करता है।

मनोमय कोश की शुद्धि और नियंत्रण अत्यंत महत्वपूर्ण है। एक अशुद्ध और अनियंत्रित मन व्यक्ति को दुःख और संताप में डाल देता है। नकारात्मक विचार, अनुचित इच्छाएं और हानिकारक भावनाएं मनोमय कोश को अशुद्ध बनाती हैं। इसके विपरीत सकारात्मक विचार, पवित्र भावनाएं और नियंत्रित इच्छाएं इसे शुद्ध बनाती हैं। ध्यान, मंत्र जाप, सत्संग और अच्छे साहित्य के अध्ययन से मनोमय कोश की शुद्धि होती है।

मनोमय कोश में भी सीमाएं हैं। यह भी परिवर्तनशील है और बाहरी परिस्थितियों से प्रभावित होता है। जो व्यक्ति अपने आप को केवल मन के साथ पहचानता है, वह भी वास्तविकता से दूर है। मन हमारा साधन है, हमारा स्वरूप नहीं। आध्यात्मिक विकास के लिए मन के पार जाना आवश्यक है, लेकिन यह तभी संभव है जब मन शुद्ध, शांत और एकाग्र हो।

बोध प्रश्न

1. तैत्तिरीय उपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
2. तैत्तिरीय उपनिषद् में कितनी वल्लियाँ हैं?
3. पंचकोश का अर्थ क्या है?



4. सबसे स्थूल कोश कौन सा है?
5. प्राणमय कोश में कितने मुख्य प्राण होते हैं?
6. अन्नमय कोश किससे बना है?
7. मनोमय कोश में कितनी ज्ञानेंद्रियां होती हैं?
8. तैत्तिरीय उपनिषद् की पहली वल्ली का नाम क्या है?
9. सबसे सूक्ष्म कोश कौन सा है?
10. भृगु किसके पुत्र थे?

सही या गलत बताइए

11. तैत्तिरीय उपनिषद् में चार वल्लियाँ हैं।
12. अन्नमय कोश नश्वर है।
13. प्राण शब्द का अर्थ जीवन शक्ति है।
14. मनोमय कोश में कर्मेन्द्रियां होती हैं।
15. आनन्दवल्ली में पंचकोश की अवधारणा दी गई है।

8.2.5 विज्ञानमय कोश

विज्ञानमय कोश मनोमय कोश से भी अधिक सूक्ष्म है। यह बुद्धि, विवेक और निर्णय शक्ति का कोश है। विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान या विवेकपूर्ण ज्ञान। यह वह स्तर है जहां व्यक्ति में विचार करने, विश्लेषण करने, निर्णय लेने और सत्य-असत्य का भेद करने की क्षमता होती है। विज्ञानमय कोश में अहंकार भी समाहित है — वह भाव जो कहता है 'मैं हूँ' या 'यह मेरा है'।

विज्ञानमय कोश की विशेषता यह है कि यह केवल सूचनाओं को एकत्र नहीं करता बल्कि उनका विश्लेषण करता है, उन्हें समझता है और उनके आधार पर निष्कर्ष निकालता है। यह कोश ज्ञान और समझ का स्तर है। जब कोई व्यक्ति गहराई से सोचता है, तर्क करता है, और किसी विषय को समझने का प्रयास करता है, तो वह विज्ञानमय कोश के स्तर पर कार्य कर रहा होता है। इसी कोश के कारण मनुष्य में विवेक की शक्ति है जो उसे पशुओं से अलग करती है।

विज्ञानमय कोश में निहित बुद्धि दो प्रकार की हो सकती है। एक है अपरा बुद्धि जो सांसारिक विषयों से संबंधित है और भौतिक सफलता प्राप्त करने में सहायक है। दूसरी है परा बुद्धि जो आध्यात्मिक सत्य को समझने की क्षमता है। एक सामान्य व्यक्ति की बुद्धि प्रायः सांसारिक विषयों में ही लगी रहती है, लेकिन जब साधक का विकास होता है तो उसकी बुद्धि आध्यात्मिक सत्यों की ओर उन्मुख होती है।

विज्ञानमय कोश का शुद्धिकरण अत्यंत आवश्यक है। जब बुद्धि अहंकार, पूर्वाग्रह और गलत धारणाओं से भरी होती है, तो वह सही निर्णय नहीं ले पाती। शास्त्र अध्ययन, सत्संग, गुरु के उपदेश और आत्म-चिंतन से विज्ञानमय कोश शुद्ध होता है। जब यह कोश शुद्ध हो जाता है, तो व्यक्ति में स्पष्ट दृष्टि आती है और वह जीवन के वास्तविक उद्देश्य को समझ पाता है। फिर भी विज्ञानमय कोश भी हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है, यह भी एक आवरण है जिसके पार जाना है।



8.2.6 आनन्दमय कोश

आनन्दमय कोश सभी कोशों में सबसे सूक्ष्म और आत्मा के सबसे निकट है। यह आनन्द, प्रेम और परम शांति का कोश है। यहां जो आनन्द है वह सांसारिक सुखों से बिल्कुल भिन्न है। सांसारिक सुख बाहरी वस्तुओं पर निर्भर होते हैं, क्षणिक होते हैं और उनके साथ दुःख की संभावना भी रहती है। लेकिन आनन्दमय कोश का आनन्द स्वयंभू है, शाश्वत है और किसी बाहरी कारण पर निर्भर नहीं है।

आनन्दमय कोश में तीन मुख्य तत्त्व हैं – प्रिय, मोद और प्रमोद। प्रिय का अर्थ है जब कोई प्रिय वस्तु मिलने वाली हो तो उसकी प्रत्याशा में जो आनन्द होता है। मोद का अर्थ है जब वह प्रिय वस्तु वास्तव में मिल जाती है तो जो आनन्द होता है। और प्रमोद का अर्थ है उस प्राप्त वस्तु के उपभोग से जो आनन्द होता है। आनन्दमय कोश में इन तीनों प्रकार के आनन्द एक साथ विद्यमान रहते हैं।

यह कोश गहरी निद्रा में अनुभव होता है। जब हम गहरी नींद से जागते हैं तो कहते हैं कि हमने बहुत अच्छी नींद ली, हमें बहुत शांति मिली। यह अनुभव आनन्दमय कोश का ही है। गहरी नींद में मन, बुद्धि सब शांत हो जाते हैं और केवल आनन्दमय कोश रह जाता है। लेकिन यहां अज्ञान का पर्दा होता है, इसलिए हम पूर्ण आत्म-साक्षात्कार नहीं कर पाते।

आनन्दमय कोश आत्मा का निकटतम आवरण है लेकिन यह स्वयं आत्मा नहीं है। यह कारण शरीर कहलाता है क्योंकि यहीं से सभी कोशों की उत्पत्ति होती है। जब साधक ध्यान में गहरे उतरता है और सभी मानसिक वृत्तियों को शांत कर देता है, तो वह आनन्दमय कोश को अनुभव करता है। यह अनुभव अत्यंत मधुर और शांतिपूर्ण होता है। लेकिन अंतिम लक्ष्य इससे भी पार जाना है और शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार करना है जो सभी कोशों से परे है, जो साक्षी है, जो अपरिवर्तनीय है और जो सच्चिदानंद स्वरूप है।

8.3 शिक्षावल्ली

8.3.1 शिक्षावल्ली का परिचय

शिक्षावल्ली तैत्तिरीय उपनिषद् का प्रथम भाग है और इसमें कुल बारह अनुवाक हैं। शिक्षा शब्द का अर्थ है सीखना या शिक्षा प्राप्त करना। प्राचीन भारतीय परंपरा में शिक्षा केवल सूचनाओं का संग्रह नहीं थी बल्कि जीवन को समग्रता में समझने और जीने की कला थी। शिक्षावल्ली में वैदिक शिक्षा की परंपरा का सुंदर वर्णन मिलता है। यह वल्ली मुख्यतः वेद के उच्चारण, स्वर विज्ञान, व्याकरण और छात्रों को दिए जाने वाले उपदेशों से संबंधित है।

शिक्षावल्ली की शुरुआत शांति पाठ से होती है जिसमें गुरु और शिष्य दोनों मिलकर प्रार्थना करते हैं कि हमें शक्ति प्राप्त हो, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, और हम दोनों में कभी द्वेष न हो। यह प्रार्थना गुरु-शिष्य संबंध की पवित्रता और महत्व को दर्शाती है। प्राचीन भारत में शिक्षा केवल एकतरफा प्रक्रिया नहीं थी बल्कि गुरु और शिष्य दोनों की सहभागिता से चलने वाली यात्रा थी।



इस वल्ली में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और संताना जैसे शिक्षा के छह अंगों का वर्णन है। वर्ण का अर्थ है अक्षर या ध्वनि, स्वर का अर्थ है उच्चारण का उतार-चढ़ाव, मात्रा का अर्थ है ध्वनि की अवधि, बल का अर्थ है उच्चारण में लगने वाला बल, साम का अर्थ है उच्चारण की समानता और संताना का अर्थ है शब्दों का संयोजन। ये सभी तत्व वैदिक मंत्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए आवश्यक थे।

शिक्षावल्ली में संधि, समास और अन्य व्याकरणिक नियमों का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इसमें ब्रह्म की उपासना, मंत्रों का महत्व और दीक्षांत उपदेश जैसे महत्वपूर्ण विषय भी हैं। दीक्षांत उपदेश विशेष रूप से प्रसिद्ध है जहां गुरु अपने शिष्यों को जीवन में आचरण के लिए अमूल्य सूत्र देते हैं। यह उपदेश आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना हजारों वर्ष पहले था।

8.3.2 शिक्षा के तत्व

शिक्षावल्ली में शिक्षा के विभिन्न तत्वों का विस्तृत विवेचन है। सबसे पहले ध्वनि विज्ञान या स्वर विज्ञान पर जोर दिया गया है। वैदिक परंपरा में मंत्रों का शुद्ध उच्चारण अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता था। यह माना जाता था कि यदि मंत्र का उच्चारण अशुद्ध है तो उसका प्रभाव नहीं होगा या गलत प्रभाव हो सकता है। इसलिए उच्चारण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शिक्षावल्ली में बताया गया है कि प्रत्येक ध्वनि का एक विशिष्ट स्थान, प्रयत्न और उच्चारण विधि होती है।

दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है ओंकार की महिमा। ओम् या ओंकार को सभी मंत्रों का बीज माना गया है। यह ब्रह्म का ध्वनि रूप है। शिक्षावल्ली में कहा गया है कि ओंकार ब्रह्म है और समस्त वेद ओंकार से ही प्रकट हुए हैं। ओंकार तीन ध्वनियों – अ, उ और म – से बना है जो क्रमशः सृष्टि, स्थिति और प्रलय का प्रतीक हैं। इन तीनों के संयोग से बना ओंकार संपूर्ण ब्रह्मांड का प्रतिनिधित्व करता है।

तीसरा तत्व है संधि और समास का ज्ञान। संधि का अर्थ है दो वर्णों या ध्वनियों का मेल और समास का अर्थ है दो या अधिक शब्दों का संक्षिप्त रूप। ये व्याकरणिक नियम वैदिक साहित्य को समझने के लिए आवश्यक थे। शिक्षावल्ली में विभिन्न प्रकार की संधियों – स्वर संधि, व्यंजन संधि और विसर्ग संधि का वर्णन है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के समासों का भी उल्लेख है।

चौथा महत्वपूर्ण तत्व है छंद और लय का ज्ञान। वैदिक मंत्र विशेष छंदों में रचे गए हैं जैसे गायत्री, त्रिष्टुप, जगती आदि। प्रत्येक छंद की अपनी लय और संरचना होती है। इन छंदों का ज्ञान मंत्रों को सही ढंग से उच्चारित करने के लिए आवश्यक था। शिक्षावल्ली में बताया गया है कि छंद का ज्ञान वेद को समझने की कुंजी है। इसके अतिरिक्त यहां यज्ञ, देवता, काल और अन्य वैदिक अवधारणाओं का भी उल्लेख है जो शिक्षा के अभिन्न अंग थे।

8.3.3 मुख्य शिक्षाएं और दीक्षांत उपदेश

शिक्षावल्ली की सबसे महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध शिक्षा है दीक्षांत उपदेश। जब छात्र अपनी शिक्षा पूरी कर लेता है और गुरुकुल छोड़कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने वाला होता है, तो गुरु उसे जीवन जीने के लिए कुछ महत्वपूर्ण सूत्र देते हैं। यह उपदेश अत्यंत व्यावहारिक और कालजयी है। गुरु कहते हैं – सत्यं



वद, धर्म चर – सत्य बोलो और धर्म का आचरण करो। यह शिक्षा का मूल सार है। सत्य केवल मुख से बोले गए शब्द नहीं हैं बल्कि विचार, वाणी और कर्म में ईमानदारी है।

गुरु आगे कहते हैं – स्वाध्यायान्मा प्रमदः – स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करो। स्वाध्याय का अर्थ है आत्म-अध्ययन और शास्त्रों का नियमित अध्ययन। जीवन भर सीखते रहना, विकसित होते रहना और अपने आप को शुद्ध करते रहना आवश्यक है। शिक्षा एक सतत प्रक्रिया है जो जीवन भर चलती रहती है। गुरुकुल से निकलने के बाद भी शिष्य को अपने ज्ञान को बढ़ाते रहना चाहिए और अपने चरित्र को निखारते रहना चाहिए।

एक और महत्वपूर्ण शिक्षा है – मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव। माता को देवता समझो, पिता को देवता समझो, आचार्य को देवता समझो और अतिथि को देवता समझो। यह शिक्षा संबंधों के प्रति सम्मान और कर्तव्य की भावना को दर्शाती है। प्राचीन भारतीय समाज में माता-पिता, गुरु और अतिथि का स्थान अत्यंत उच्च था। उनकी सेवा और सम्मान को धार्मिक कर्तव्य माना जाता था।

गुरु यह भी कहते हैं कि जो कर्म निर्दोष हैं, जो आचरण श्रेष्ठ हैं, उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए। यदि कभी धर्म के विषय में संदेह हो तो जो ब्राह्मण विद्वान, विचारशील और धर्मपरायण हैं, उनके आचरण का अनुसरण करना चाहिए। दान देना चाहिए लेकिन श्रद्धा के साथ, विनम्रता के साथ और उदारता के साथ। यदि धन है तो उसे समाज के कल्याण में लगाना चाहिए। गुरु का यह दीक्षांत उपदेश जीवन जीने की संपूर्ण कला का सार है जो आज भी प्रासंगिक और मार्गदर्शक है।

बोध प्रश्न

1. तैत्तिरीय उपनिषद् का नाम कैसे पड़ा?
 2. पंचकोश सिद्धांत का मूल उद्देश्य क्या है?
 3. मातृदेवो भव, पितृदेवो भव – इस उपदेश का अर्थ लिखिए।
 4. ओंकार का क्या महत्व है?
 5. ब्रह्मानन्द और सांसारिक आनन्द में क्या अंतर है?
 6. स्वाध्याय का क्या अर्थ है?
-

8.4 आनन्दवल्ली

8.4.1 आनन्दवल्ली का सार

आनन्दवल्ली तैत्तिरीय उपनिषद् का दूसरा और सबसे महत्वपूर्ण भाग है। इसे ब्रह्मानन्दवल्ली भी कहा जाता है क्योंकि इसमें ब्रह्म के आनन्दस्वरूप का विस्तार से वर्णन है। इस वल्ली में नौ अनुवाक हैं और यहां पंचकोश विवेचन, ब्रह्म की परिभाषा, सृष्टि की उत्पत्ति और आनन्द की श्रेणियां जैसे गहन दार्शनिक विषयों का वर्णन है। यह वल्ली तैत्तिरीय उपनिषद् का हृदय है।

आनन्दवल्ली की शुरुआत ब्रह्म की परिभाषा से होती है। यहां कहा गया है – सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म – ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है और अनन्त है। यह ब्रह्म की तीन मूलभूत विशेषताएं हैं। सत्य का अर्थ है जो सदा



विद्यमान है, जो कभी बदलता नहीं। ज्ञान का अर्थ है जो स्वयं चौतन्य स्वरूप है और सभी ज्ञान का स्रोत है। अनन्त का अर्थ है जो देश, काल और वस्तु की सीमा से परे है, जो असीम और अपरिमित है।

इस वल्ली में यह भी बताया गया है कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति – ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। यह कोई साधारण ज्ञान नहीं है बल्कि एक रूपांतरकारी अनुभव है। जब साधक ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, तो उसकी चेतना पूर्णतः बदल जाती है। वह अपने आप को अलग और सीमित नहीं बल्कि संपूर्ण और असीम अनुभव करता है।

आनन्दवल्ली में सृष्टि की उत्पत्ति का भी वर्णन है। बताया गया है कि आत्मा ने इच्छा की कि मैं अनेक हो जाऊं, मैं प्रजा उत्पन्न करूं। इस इच्छा से तप हुआ और तप से पूरी सृष्टि की उत्पत्ति हुई। पहले आकाश उत्पन्न हुआ, फिर वायु, फिर अग्नि, फिर जल और अंत में पृथ्वी। इन पांच महाभूतों से संपूर्ण भौतिक जगत् बना। यह सृष्टि विवरण आध्यात्मिक दृष्टिकोण से दिया गया है जो यह दर्शाता है कि संपूर्ण जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है और अंततः ब्रह्म में ही विलीन हो जाएगा।

8.4.2 ब्रह्मविद्या का वर्णन और आनन्द का स्वरूप

आनन्दवल्ली में आनन्द की विभिन्न श्रेणियों का विस्तृत वर्णन है। यहां एक रोचक गणितीय प्रगति के माध्यम से यह दर्शाया गया है कि मानव आनन्द से लेकर ब्रह्मानन्द तक कितनी श्रेणियां हैं। सबसे निचले स्तर पर एक युवा, स्वस्थ, शक्तिशाली, विद्वान और धनी मनुष्य का आनन्द है। इसे मानुष आनन्द कहा गया है। यह सांसारिक आनन्द का उच्चतम रूप है।

इसके बाद मनुष्य गन्धर्व, देव गन्धर्व, पितर, आजान देव, कर्म देव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्म के आनन्द की क्रमिक श्रेणियां हैं। प्रत्येक उच्च स्तर का आनन्द पिछले स्तर के आनन्द से सौ गुना अधिक है। यह विवरण यह दर्शाता है कि ब्रह्मानन्द किसी भी सांसारिक आनन्द की तुलना में असीम रूप से अधिक है। कोई भी भौतिक सुख ब्रह्मानन्द की तुलना में कुछ भी नहीं है।

लेकिन उपनिषद् यह भी कहता है कि जो व्यक्ति ब्रह्म को जानता है, उसे किसी से भय नहीं रहता। जब व्यक्ति यह जान लेता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है और मैं भी ब्रह्म हूं, तो फिर किसी का भय नहीं रहता। भय द्वैत से उत्पन्न होता है, जब हम अपने आप को दूसरों से अलग मानते हैं। लेकिन अद्वैत ज्ञान में सब कुछ एक है, इसलिए भय का कोई कारण नहीं रहता।

आनन्दवल्ली में यह भी स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्म वाणी और मन से परे है। यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह – जहां से वाणी और मन बिना पहुंचे लौट आते हैं, वही ब्रह्म है। ब्रह्म का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता, उसे मन से सोचा नहीं जा सकता। वह इन सबसे परे है। फिर भी जो व्यक्ति ब्रह्म को जान लेता है, वह किसी भी चीज से नहीं डरता। यह ज्ञान सभी भयों से मुक्त कर देता है और परम शांति प्रदान करता है। ब्रह्मानन्द ही वास्तविक और स्थायी आनन्द है जो कभी समाप्त नहीं होता।

8.5 भृगुवल्ली

8.5.1 भृगुवल्ली की कथा



भृगुवल्ली तैत्तिरीय उपनिषद् का तृतीय और अंतिम भाग है। इसमें तीन अनुवाक हैं। यह वल्ली भृगु ऋषि और उनके पिता वरुण के बीच हुए संवाद के रूप में है। भृगु वरुण के पुत्र थे और वे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहते थे। भृगु अपने पिता के पास गए और कहा — भगवन ब्रह्म को मुझे बताइए। यह प्रश्न एक जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न है जो सत्य को जानने के लिए उत्सुक है।

वरुण ने अपने पुत्र को सीधे उत्तर नहीं दिया बल्कि उन्हें तपस्या करने के लिए कहा। उन्होंने कहा कि तप के द्वारा ब्रह्म को जानने का प्रयास करो। तप का अर्थ है गहन साधना, एकाग्रता और आत्म-शोधन। वरुण यह नहीं चाहते थे कि भृगु को केवल बौद्धिक ज्ञान मिले, वे चाहते थे कि भृगु स्वयं अनुभव के द्वारा ब्रह्म को जाने। यह गुरु की बुद्धिमानी थी कि उन्होंने शिष्य को स्वयं खोजने का मार्ग दिया।

भृगु ने तपस्या की और पहली बार उन्हें लगा कि अन्न ही ब्रह्म है। क्योंकि सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न से जीवित रहते हैं और अंत में अन्न में ही लौट जाते हैं। यह एक प्रारंभिक समझ थी। भृगु अपने पिता के पास गए लेकिन वरुण ने कहा कि फिर से तपस्या करो। इसका अर्थ था कि यह संपूर्ण सत्य नहीं है, और गहरे जाने की आवश्यकता है।

भृगु ने फिर तपस्या की और इस बार उन्हें प्रतीत हुआ कि प्राण ही ब्रह्म है। क्योंकि प्राण के बिना कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। प्राण ही जीवन का आधार है। लेकिन वरुण ने फिर कहा कि और तपस्या करो। यह क्रम इस प्रकार चलता रहा। हर बार भृगु ब्रह्म के एक नए पहलू को समझते लेकिन वरुण उन्हें और गहरे जाने के लिए प्रेरित करते। यह प्रक्रिया ब्रह्मज्ञान की क्रमिक प्राप्ति को दर्शाती है।

8.5.2 तपस्या और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति

तीसरी बार तपस्या करने पर भृगु को लगा कि मन ही ब्रह्म है। क्योंकि मन के द्वारा ही हम सोचते हैं, समझते हैं और जगत का अनुभव करते हैं। मन सभी अनुभवों का केंद्र है। लेकिन यह भी संपूर्ण सत्य नहीं था। वरुण ने फिर भृगु को तपस्या करने के लिए कहा। चौथी बार तपस्या करने पर भृगु को अनुभव हुआ कि विज्ञान या बुद्धि ही ब्रह्म है। क्योंकि बुद्धि के द्वारा ही हम सत्य को समझ सकते हैं और विवेक कर सकते हैं।

लेकिन अंततः पांचवीं बार तपस्या करने पर भृगु को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् — उन्होंने जान लिया कि आनन्द ही ब्रह्म है। क्योंकि सभी प्राणी आनन्द से उत्पन्न होते हैं, आनन्द में जीवित रहते हैं और अंत में आनन्द में ही लौट जाते हैं। यह अंतिम और पूर्ण सत्य था। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और जो इस आनन्द को जान लेता है, वह सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है।

भृगुवल्ली की यह कथा अत्यंत शिक्षाप्रद है। यह दर्शाती है कि ब्रह्मज्ञान एक क्रमिक प्रक्रिया है। पहले हम स्थूल को समझते हैं फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म की ओर बढ़ते हैं। अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से बुद्धि और अंत में आनन्द तक पहुंचना — यह एक स्वाभाविक विकास क्रम है। हर चरण महत्वपूर्ण है और एक चरण को समझे बिना अगले चरण पर नहीं जाया जा सकता।



यह कथा यह भी बताती है कि गुरु की भूमिका क्या होती है। गुरु सीधे उत्तर नहीं देता बल्कि शिष्य को स्वयं खोजने के लिए प्रेरित करता है। वरुण ने भृगु को पांच बार तपस्या करने के लिए कहा। हर बार भृगु थोड़ा और गहरे गए, थोड़ा और समझ विकसित की। यदि वरुण ने पहली बार में ही कह दिया होता कि आनन्द ही ब्रह्म है, तो भृगु को वह गहरा अनुभव नहीं होता जो क्रमिक साधना से हुआ।

भृगुवल्ली अंत में कहती है कि अन्न की निंदा नहीं करनी चाहिए, प्राण की निंदा नहीं करनी चाहिए। अन्न को बहुत मात्रा में उत्पन्न करना चाहिए और किसी को भी अन्न से वंचित नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति अन्न को महत्व देता है और उसका सम्मान करता है, वह सुख और समृद्धि को प्राप्त करता है। यह शिक्षा अत्यंत व्यावहारिक है और यह दर्शाती है कि आध्यात्मिक ज्ञान भौतिक जीवन की उपेक्षा नहीं सिखाता बल्कि उसे भी उचित स्थान देता है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के बाद भी व्यक्ति को सांसारिक कर्तव्यों का पालन करना चाहिए और समाज के कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए।

8.6 तैत्तिरीय उपनिषद् का समग्र संदेश

तैत्तिरीय उपनिषद् का समग्र संदेश अत्यंत व्यापक और गहरा है। यह उपनिषद् हमें बताता है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक सुख प्राप्त करना नहीं है बल्कि अपने वास्तविक स्वरूप को जानना है। हम केवल शरीर नहीं हैं, हम पांच कोशों से बने हुए जटिल प्राणी हैं और हमारा असली स्वरूप इन सभी कोशों से परे शुद्ध आत्मा है जो ब्रह्म के साथ एक है।

शिक्षावल्ली हमें सिखाती है कि शिक्षा केवल सूचनाओं का संग्रह नहीं है बल्कि जीवन को संपूर्णता में समझने और जीने की कला है। सत्य, धर्म, स्वाध्याय, और माता-पिता तथा गुरु के प्रति सम्मान — ये वे मूल्य हैं जिन पर एक सुखी और सार्थक जीवन का निर्माण होता है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में भी इन मूल्यों की अत्यंत आवश्यकता है।

आनन्दवल्ली हमें बताती है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और सभी प्राणी इसी आनन्द की खोज में हैं। चाहे हम धन कमाएं, प्रसिद्धि पाएं या संबंध बनाएं — हर जगह हम आनन्द की ही तलाश कर रहे हैं। लेकिन वास्तविक और स्थायी आनन्द केवल ब्रह्म में ही है। बाहरी वस्तुओं से मिलने वाला आनन्द क्षणिक और अपूर्ण है।

भृगुवल्ली हमें सिखाती है कि आध्यात्मिक ज्ञान एक यात्रा है, एक क्रमिक विकास है। तुरंत परिणाम की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। धैर्य, निरंतर साधना और गहन तपस्या से ही सत्य का साक्षात्कार होता है। साथ ही यह भी बताती है कि आध्यात्मिक जीवन और सांसारिक जीवन में विरोध नहीं है। ब्रह्मज्ञानी भी अन्न का सम्मान करता है, समाज की सेवा करता है और अपने कर्तव्यों का पालन करता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् का संदेश समन्वय और संतुलन का है। यह न तो पूर्णतः भौतिकवादी है न पूर्णतः अध्यात्मवादी। यह दोनों को उचित स्थान देता है। शरीर महत्वपूर्ण है क्योंकि यह साधना का साधन है। मन महत्वपूर्ण है क्योंकि यह विचार और भावना का केंद्र है। बुद्धि महत्वपूर्ण है क्योंकि यह विवेक का साधन है। लेकिन अंततः हमें इन सबसे परे जाकर अपने आनन्दमय स्वरूप को जानना है।



यह उपनिषद् आज के युग में भी उतना ही प्रासंगिक है। आधुनिक मनुष्य भौतिक उपलब्धियों के बावजूद शांति और आनन्द की खोज में है। तनाव, अवसाद और असंतोष बढ़ते जा रहे हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् हमें बताता है कि समस्या बाहर नहीं, भीतर है। जब तक हम अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानेंगे, तब तक बाहरी उपलब्धियां स्थायी संतोष नहीं दे सकतीं।

पंचकोश सिद्धांत आधुनिक समग्र स्वास्थ्य की अवधारणा के लिए अत्यंत उपयोगी है। यह हमें बताता है कि स्वास्थ्य केवल शारीरिक नहीं है बल्कि प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक – सभी स्तरों पर होना चाहिए। योग, ध्यान और आयुर्वेद जैसी भारतीय परंपराएं इसी समग्र दृष्टिकोण पर आधारित हैं।

अंत में, तैत्तिरीय उपनिषद् का संदेश आशा और उत्साह का है। यह कहता है कि प्रत्येक मनुष्य में ब्रह्म को जानने की क्षमता है। चाहे हम कहीं भी हों, किसी भी परिस्थिति में हों, हम अपने वास्तविक स्वरूप को जान सकते हैं और परम आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं। यही इस उपनिषद् का शाश्वत और कालजयी संदेश है।

8.7 बोध प्रश्न

1. तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित पंचकोश की अवधारणा का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. शिक्षावल्ली में दिए गए दीक्षांत उपदेश का वर्णन करते हुए उसकी वर्तमान प्रासंगिकता पर प्रकाश डालिए।
3. आनन्दवल्ली में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप और आनन्द की विभिन्न श्रेणियों की व्याख्या कीजिए।
4. भृगुवल्ली की कथा का सविस्तार वर्णन करते हुए इससे मिलने वाली शिक्षाओं को स्पष्ट कीजिए।
5. तैत्तिरीय उपनिषद् की तीनों वल्लियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।
6. अन्नमय कोश और प्राणमय कोश में क्या अंतर है? समझाइए।
7. मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
8. शिक्षावल्ली में वर्णित शिक्षा के तत्वों को स्पष्ट कीजिए।
9. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म – इस कथन की व्याख्या कीजिए।
10. आनन्दमय कोश क्या है? इसका महत्व बताइए।
11. वरुण ने भृगु को बार-बार तपस्या करने के लिए क्यों कहा?
12. तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन कीजिए।



इकाई 09

छान्दोग्य उपनिषद्

इकाई संरचना

9.1 प्रस्तावना

- 9.1.1 छान्दोग्य उपनिषद् का परिचय
- 9.1.2 उपनिषद् का महत्व एवं विशेषताएं

9.2 ओम का ध्यान और उद्गीथ विद्या

- 9.2.1 ओम का स्वरूप और महत्व
- 9.2.2 उद्गीथ उपासना
- 9.2.3 ओम के तीन मात्राएं

9.3 शांडिल्य विद्या

- 9.3.1 शांडिल्य विद्या का परिचय
- 9.3.2 हृदय में ब्रह्म की उपासना
- 9.3.3 दहर विद्या

9.4 प्रमुख उपदेश और दार्शनिक सिद्धांत

- 9.4.1 तत् त्वम् असि — महावाक्य
- 9.4.2 सत्यकाम जाबाल की कथा
- 9.4.3 नचिकेता और उद्दालक का संवाद

9.5 अन्य महत्वपूर्ण शिक्षाएं

- 9.5.1 पंचाग्नि विद्या
- 9.5.2 भूम विद्या
- 9.5.3 प्राण विद्या

9.6 छान्दोग्य उपनिषद् का समग्र संदेश

9.7 बोध प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

छान्दोग्य उपनिषद् भारतीय दर्शन और आध्यात्मिक साहित्य के सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण उपनिषदों में से एक है। यह सामवेद की तांड्य या छान्दोग्य शाखा से संबंधित है। इस उपनिषद् का नाम छान्दोग्य इसलिए पड़ा क्योंकि यह सामवेद के गायकों या छान्दोग ऋत्विजों के लिए विशेष रूप से रचा गया था।



सामवेद संगीत और गायन से संबंधित वेद है और छान्दोग्य उपनिषद् में भी संगीत, ध्वनि और मंत्रों की महिमा का विशेष वर्णन मिलता है।

9.1.1 छान्दोग्य उपनिषद् का परिचय

यह उपनिषद् आकार में बहुत विस्तृत है और इसमें आठ प्रपाठक या अध्याय हैं। प्रत्येक प्रपाठक में अनेक खंड हैं जिनमें विभिन्न विषयों का विवेचन किया गया है। इस उपनिषद् की रचना का समय लगभग छठी से पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है, हालांकि कुछ विद्वान इसे और भी प्राचीन मानते हैं। इसकी भाषा सरल और सुबोध संस्कृत है जो इसे अन्य उपनिषदों की तुलना में अधिक सुलभ बनाती है।

छान्दोग्य उपनिषद् की विशेषता यह है कि यह केवल दार्शनिक सिद्धांतों तक सीमित नहीं है बल्कि इसमें अनेक रोचक कथाएं, संवाद और उपमाएं हैं जो गहन आध्यात्मिक सत्यों को सरल रूप में प्रस्तुत करती हैं। इसमें गुरु-शिष्य संवाद, ब्रह्मज्ञानी राजाओं की कथाएं, और साधारण जीवन से लिए गए उदाहरणों के माध्यम से ब्रह्मविद्या को समझाया गया है। यह उपनिषद् न केवल आध्यात्मिक साधकों के लिए बल्कि सामान्य जीवन जीने वाले व्यक्तियों के लिए भी मार्गदर्शक है।

इस उपनिषद् में अनेक महत्वपूर्ण विद्याओं और उपासना पद्धतियों का वर्णन है जैसे उद्गीथ विद्या, शांडिल्य विद्या, दहर विद्या, पंचाग्नि विद्या, भूम विद्या और प्राण विद्या। प्रत्येक विद्या एक विशिष्ट उपासना पद्धति है जो साधक को ब्रह्म के एक विशेष पहलू की ओर ले जाती है। इसके अतिरिक्त इस उपनिषद् में प्रसिद्ध महावाक्य षट् त्वम् असिष् का वर्णन है जो अद्वैत वेदांत का मूल आधार है।

9.1.2 उपनिषद् का महत्व एवं विशेषताएं

छान्दोग्य उपनिषद् का महत्व अनेक कारणों से है। सर्वप्रथम, यह उपनिषद् ब्रह्मविद्या को अत्यंत सरल और व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करता है। जहां कुछ उपनिषद् अत्यधिक दार्शनिक और गूढ़ हैं, वहीं छान्दोग्य उपनिषद् साधारण व्यक्ति की समझ में आने वाली भाषा और उदाहरणों का प्रयोग करता है। यह नदी, समुद्र, वृक्ष, फल, पक्षी जैसे दैनिक जीवन के उदाहरणों से आध्यात्मिक सत्यों को स्पष्ट करता है।

दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है इसका समावेशी दृष्टिकोण। यह उपनिषद् विभिन्न उपासना पद्धतियों को मान्यता देता है और कहता है कि ब्रह्म तक पहुंचने के अनेक मार्ग हैं। कोई ओम की उपासना के द्वारा, कोई प्राण की उपासना के द्वारा, कोई सूर्य की उपासना के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। यह लचीलापन और समावेशिता भारतीय आध्यात्मिक परंपरा की विशेषता है।

तीसरी विशेषता है इसकी कथा शैली। छान्दोग्य उपनिषद् में अनेक प्रेरक कथाएं हैं जो नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा देती हैं। सत्यकाम जाबाल की कथा सत्यनिष्ठा का उदाहरण है, श्वेतकेतु की कथा अहंकार के त्याग की शिक्षा देती है, और उपकोशल की कथा यह दर्शाती है कि ज्ञान केवल पुस्तकों से नहीं बल्कि अनुभव से आता है। ये कथाएं आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं जितनी हजारों वर्ष पहले थीं।

चौथी विशेषता है इसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण। छान्दोग्य उपनिषद् अंधविश्वास को बढ़ावा नहीं देता बल्कि तर्क और विवेक को महत्व देता है। यह कहता है कि गुरु के उपदेश को भी आंख मूंदकर नहीं मान लेना चाहिए बल्कि उसे अपने अनुभव से परखना चाहिए। श्वेतकेतु को उनके पिता उद्दालक ने कहा कि केवल



मेरी बात मान लेने से नहीं चलेगा, तुम्हें स्वयं अनुभव करना होगा। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण आधुनिक युग में भी अत्यंत प्रासंगिक है।

पांचवीं विशेषता है इसका सामाजिक संदेश। छान्दोग्य उपनिषद् जाति-पाति के बंधनों को नहीं मानता। सत्यकाम जाबाल की कथा इसका प्रमाण है जहां एक अज्ञात पिता का पुत्र केवल अपनी सत्यनिष्ठा के कारण ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है। यह उपनिषद् कहता है कि ब्रह्मज्ञान जन्म से नहीं बल्कि चरित्र और साधना से प्राप्त होता है। यह संदेश आज के समय में जब समाज में असमानता और भेदभाव व्याप्त है, अत्यंत महत्वपूर्ण है।

बोध प्रश्न

1. छान्दोग्य उपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
 2. छान्दोग्य उपनिषद् में कितने प्रपाठक हैं?
 3. तत् त्वम् असि का अर्थ क्या है?
 4. जाबाला कौन थी?
 5. श्वेतकेतु के पिता का क्या नाम था?
-

9.2 ओम का ध्यान और उद्गीथ विद्या

छान्दोग्य उपनिषद् का प्रारंभ ही ओम या ओंकार की महिमा से होता है। उपनिषद् का पहला वाक्य है—ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत—इस ओम अक्षर को उद्गीथ मानकर उसकी उपासना करनी चाहिए। ओम को सभी ध्वनियों का सार, सभी वेदों का सार और स्वयं ब्रह्म का ध्वनि रूप माना गया है। यह केवल एक शब्द या ध्वनि नहीं है बल्कि संपूर्ण ब्रह्मांड का प्रतीक है।

9.2.1 ओम का स्वरूप और महत्व

ओम की महत्ता को समझाने के लिए उपनिषद् अनेक उपमाएं देता है। कहा गया है कि जैसे एक चाबी से अनेक तालों को खोला जा सकता है, वैसे ही ओम के द्वारा समस्त वैदिक ज्ञान और ब्रह्मज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। जैसे सभी पत्ते एक डंडी से जुड़े होते हैं, वैसे ही सभी वेद और सभी विद्याएं ओम से जुड़ी हुई हैं। ओम वह धागा है जो सभी मोतियों को एक माला में पिरोता है। ओम वह नींव है जिस पर संपूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान का भवन खड़ा है।

छान्दोग्य उपनिषद् में ओम को उद्गीथ भी कहा गया है। उद्गीथ का अर्थ है ऊंचा गान या उत्कृष्ट गान। सामवेद की स्तुतियों में जो मध्य भाग होता है उसे उद्गीथ कहते हैं और यह सबसे महत्वपूर्ण भाग माना जाता है। ओम को उद्गीथ कहने का अर्थ है कि यह सर्वोच्च स्तुति है, यह परम मंत्र है। जब कोई व्यक्ति ओम का उच्चारण करता है, तो वह केवल एक शब्द नहीं बोल रहा बल्कि संपूर्ण ब्रह्मांड के साथ स्वयं को जोड़ रहा है।

ओम की उपासना का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति ओम को जानता है और उसकी उपासना करता है, वह सभी कामनाओं को प्राप्त करता है। उसकी सभी इच्छाएं पूर्ण होती हैं। यहां



कामना का अर्थ केवल भौतिक इच्छाएं नहीं हैं बल्कि आध्यात्मिक लक्ष्य भी हैं। ओम की उपासना करने वाला व्यक्ति धीरे-धीरे सांसारिक इच्छाओं से मुक्त होता जाता है और अंततः मोक्ष को प्राप्त करता है। ओम मार्ग है और साथ ही लक्ष्य भी। यह साधन है और साध्य भी।

9.2.2 उद्गीथ उपासना

उद्गीथ उपासना का विस्तृत वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम प्रपाठक में मिलता है। उपनिषद् बताता है कि देवता और असुर दोनों ही प्रजापति की संतान थे। देवताओं ने उद्गीथ को अपना अस्त्र बनाया और असुरों को परास्त किया। यह कथा प्रतीकात्मक है जो यह दर्शाती है कि जो व्यक्ति ओम की उपासना करता है, वह अपनी नकारात्मक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। देवता हमारी सकारात्मक शक्तियों का प्रतीक हैं और असुर नकारात्मक प्रवृत्तियों का।

उद्गीथ उपासना में ओम के साथ विभिन्न देवताओं और तत्वों का संबंध जोड़ा गया है। ओम को वाक् या वाणी के साथ, प्राण के साथ, चक्षु या आंख के साथ, श्रोत्र या कान के साथ, और मन के साथ जोड़ा गया है। कहा गया है कि ओम इन सभी इंद्रियों और शक्तियों का सार है। जब हम ओम का उच्चारण करते हैं, तो हमारी सभी इंद्रियां और शक्तियां एकत्रित होती हैं और एक बिंदु पर केंद्रित हो जाती हैं।

उद्गीथ उपासना की विधि भी बताई गई है। साधक को शांत स्थान पर बैठकर, मन को एकाग्र करके, ओम का उच्चारण करना चाहिए। यह उच्चारण केवल मुख से नहीं बल्कि पूरे अस्तित्व के साथ होना चाहिए। प्रत्येक कोशिका, प्रत्येक श्वास ओम से भरा होना चाहिए। ओम का उच्चारण करते समय साधक को यह भावना करनी चाहिए कि वह ब्रह्म के साथ एक हो रहा है। यह केवल एक यांत्रिक क्रिया नहीं है बल्कि गहन आध्यात्मिक अनुभव है।

उपनिषद् यह भी बताता है कि उद्गीथ की उपासना करने से क्या फल मिलता है। कहा गया है कि जो व्यक्ति ओम को जानता है और उसकी उपासना करता है, वह दीर्घायु होता है, संतान और पशु से युक्त होता है, प्रसिद्धि प्राप्त करता है और ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। यहां दीर्घायु का अर्थ केवल लंबा जीवन नहीं है बल्कि गुणवत्तापूर्ण जीवन है। संतान और पशु समृद्धि के प्रतीक हैं। प्रसिद्धि का अर्थ सांसारिक ख्याति नहीं बल्कि आध्यात्मिक उत्कर्ष है। और अंततः ब्रह्मलोक की प्राप्ति मोक्ष का प्रतीक है।

9.2.3 ओम के तीन मात्राएं

ओम तीन ध्वनियों या मात्राओं से बना है – अ, उ और म। छान्दोग्य उपनिषद् में इन तीन मात्राओं का गहन दार्शनिक विवेचन मिलता है। ये तीन मात्राएं केवल ध्वनियां नहीं हैं बल्कि संपूर्ण अस्तित्व के तीन आयामों का प्रतीक हैं। अ कार सृष्टि का प्रतीक है, उ कार स्थिति का प्रतीक है, और म कार प्रलय या विसर्जन का प्रतीक है। ये तीनों मिलकर ब्रह्मांड के चक्र को पूर्ण करते हैं।

अ कार को पृथ्वी, भौतिक जगत, जागृत अवस्था और ब्रह्मा के साथ जोड़ा गया है। यह स्थूल का प्रतीक है, वह जो हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और अनुभव कर सकते हैं। जब हम अ का उच्चारण करते हैं, तो हम भौतिक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यह प्रारंभ है, उत्पत्ति है, जीवन का आरंभ है। अ का उच्चारण मुख को पूरी तरह खोलकर किया जाता है, जो खुलेपन और स्वीकृति का प्रतीक है।



उ कार को अंतरिक्ष, सूक्ष्म जगत, स्वप्न अवस्था और विष्णु के साथ जोड़ा गया है। यह मध्य का प्रतीक है, संरक्षण का प्रतीक है। उ वह स्थिति है जहां सृष्टि स्थिर रहती है, विकसित होती है। यह हमारे मानसिक और भावनात्मक जीवन का प्रतीक है। जब हम उ का उच्चारण करते हैं, तो हम सूक्ष्म जगत में प्रवेश करते हैं, जो बाहर से दिखाई नहीं देता लेकिन अत्यंत शक्तिशाली है।

म कार को स्वर्ग, कारण जगत, सुषुप्ति अवस्था और शिव या रुद्र के साथ जोड़ा गया है। यह अंत का प्रतीक है, विसर्जन का प्रतीक है। म का उच्चारण होंठों को पूरी तरह बंद करके किया जाता है, जो समाप्ति और विलय का प्रतीक है। लेकिन यह समाप्ति नकारात्मक नहीं है। यह वापस स्रोत में लौटना है, मूल में विलीन होना है। म के बाद जो मौन आता है, वह ब्रह्म का प्रतीक है जो सभी ध्वनियों से परे है।

बोध प्रश्न

1. छान्दोग्य उपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
2. छान्दोग्य उपनिषद् में कितने प्रपाठक हैं?
3. तत् त्वम् असि महावाक्य किस उपनिषद् में है?
4. ओम में कितनी मात्राएं होती हैं?
5. उद्गीथ का क्या अर्थ है?
6. शांडिल्य विद्या किससे संबंधित है?
7. सत्यकाम की माता का क्या नाम था?
8. श्वेतकेतु के पिता का क्या नाम था?
9. दहर का अर्थ क्या है?
10. पंचाग्नि विद्या में कितनी अग्नियां हैं?

सही या गलत बताइए

11. छान्दोग्य उपनिषद् यजुर्वेद से संबंधित है।
12. ओम तीन मात्राओं से बना है।
13. शांडिल्य विद्या हृदय में ब्रह्म की उपासना है।
14. अहम् ब्रह्मास्मि छान्दोग्य उपनिषद् का महावाक्य है।
15. सत्यकाम जाबाल सत्यनिष्ठा के लिए प्रसिद्ध हैं।

9.3 शांडिल्य विद्या

शांडिल्य विद्या छान्दोग्य उपनिषद् की सबसे महत्वपूर्ण और गहन उपासना पद्धतियों में से एक है। इस विद्या का वर्णन उपनिषद् के तृतीय प्रपाठक में मिलता है। शांडिल्य विद्या का प्रतिपादन महर्षि शांडिल्य ने किया था, इसलिए इसे यह नाम मिला। यह विद्या ब्रह्म की उपासना का एक विशिष्ट मार्ग प्रस्तुत करती है जो अत्यंत सरल होते हुए भी गहन और प्रभावशाली है।

9.3.1 शांडिल्य विद्या का परिचय



शांडिल्य विद्या का मूल सिद्धांत है कि ब्रह्म को हृदय में उपासना करनी चाहिए। यह विद्या कहती है कि जिस प्रकार एक छोटे से बीज में विशाल वृक्ष छिपा होता है, उसी प्रकार हमारे छोटे से हृदय में संपूर्ण ब्रह्मांड समाया हुआ है। हृदय केवल रक्त पंप करने वाला अंग नहीं है बल्कि यह चेतना का केंद्र है, यह वह स्थान है जहां मनुष्य और ब्रह्म का मिलन होता है। शांडिल्य विद्या साधक को सिखाती है कि बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है, ब्रह्म तो हमारे भीतर ही विराजमान है।

इस विद्या में ब्रह्म को सर्व कर्मा सर्व कामः सर्व गन्धः सर्व रसः—सभी कर्मों वाला, सभी कामनाओं वाला, सभी गंधों वाला, सभी रसों वाला बताया गया है। यह वर्णन दर्शाता है कि ब्रह्म केवल निराकार नहीं है बल्कि संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। हर क्रिया में, हर इच्छा में, हर अनुभव में ब्रह्म ही है। जब साधक इस भाव के साथ ध्यान करता है, तो उसे सभी कुछ में ब्रह्म का दर्शन होने लगता है।

शांडिल्य विद्या की एक विशेषता यह है कि यह सकारात्मक है। यह कहती है कि संसार माया नहीं है, भ्रम नहीं है, बल्कि ब्रह्म का ही प्रकटीकरण है। संसार को नकारने की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसमें ब्रह्म को देखने की आवश्यकता है। यह दृष्टिकोण साधक को संसार से भागने के बजाय संसार में रहते हुए भी ब्रह्म की अनुभूति करने का मार्ग दिखाता है। यह गृहस्थ जीवन जीने वाले व्यक्तियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

9.3.2 हृदय में ब्रह्म की उपासना

शांडिल्य विद्या में हृदय को दहर कहा गया है जिसका अर्थ है छोटा आकाश। उपनिषद् कहता है कि हमारे शरीर में जो हृदय है, उसके भीतर एक छोटा सा आकाश है। यह केवल भौतिक आकाश नहीं है बल्कि चेतना का आकाश है। इस हृदयाकाश में पृथ्वी, अंतरिक्ष, स्वर्ग, सूर्य, चंद्रमा, तारे — सब कुछ समाया हुआ है। जो कुछ भी इस ब्रह्मांड में है, वह सब इस छोटे से हृदय में मौजूद है।

यह कथन आरंभ में विरोधाभासी लगता है। कैसे संभव है कि इतने विशाल ब्रह्मांड को इतने छोटे से हृदय में समाया जा सकता है? लेकिन उपनिषद् समझाता है कि यह भौतिक आकार की बात नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न में हम विशाल जगत देखते हैं जो हमारे मन में ही होता है, उसी प्रकार संपूर्ण जगत हमारी चेतना में ही है। हृदय वह केंद्र है जहां व्यक्तिगत चेतना और सार्वभौमिक चेतना का मिलन होता है।

शांडिल्य विद्या साधक को सिखाती है कि ध्यान करते समय अपने हृदय पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। हृदय में उस आकाश की कल्पना करनी चाहिए जो असीम है, शुद्ध है, और प्रकाशमान है। उस आकाश में ब्रह्म विराजमान है जो सच्चिदानंद स्वरूप है। जब साधक इस प्रकार ध्यान करता है, तो उसे धीरे-धीरे अनुभव होने लगता है कि वह केवल शरीर नहीं है, वह इस सीमित व्यक्तित्व से कहीं अधिक विशाल है। इस उपासना का फल भी बताया गया है। कहा गया है कि जो व्यक्ति इस प्रकार हृदयाकाश में ब्रह्म की उपासना करता है, वह अजर और अमर हो जाता है। यहां अजर और अमर का अर्थ शारीरिक अमरता नहीं है बल्कि आत्मिक अमरता है। साधक को यह अनुभव होता है कि उसका वास्तविक स्वरूप शरीर



नहीं है, इसलिए शरीर के नष्ट होने से उसका कोई नुकसान नहीं होता। वह जन्म-मृत्यु के चक्र से परे चला जाता है और शाश्वत आनन्द को प्राप्त करता है।

9.3.3 दहर विद्या और इसका महत्व

दहर विद्या शांडिल्य विद्या का ही विस्तार है। दहर का अर्थ है छोटा और यह हृदयाकाश को संदर्भित करता है। दहर विद्या में विस्तार से बताया गया है कि हृदय में स्थित इस आकाश का स्वरूप क्या है और इसकी उपासना कैसे करनी चाहिए। उपनिषद् कहता है कि यह हृदयाकाश वृद्धावस्था से प्रभावित नहीं होता, मृत्यु से नष्ट नहीं होता। यह शाश्वत और अपरिवर्तनशील है।

दहर विद्या में एक महत्वपूर्ण शिक्षा यह दी गई है कि जो कुछ भी हम चाहते हैं, जो कुछ भी हम खोजते हैं, वह सब इसी हृदयाकाश में है। यदि कोई व्यक्ति पित्रलोक को खोजना चाहता है, यदि कोई मात्रलोक को खोजना चाहता है, यदि कोई किसी खोए हुए प्रियजन से मिलना चाहता है — यह सब इस हृदयाकाश में संभव है। यह कथन प्रतीकात्मक है जो यह दर्शाता है कि हमारी सभी खोज, सभी तृष्णाएं वास्तव में ब्रह्म की खोज हैं।

उपनिषद् एक सुंदर उपमा देता है। कहा गया है कि जैसे जमीन के नीचे छिपा हुआ खजाना उसके ऊपर से बार-बार गुजरने वाले लोगों को नहीं मिलता क्योंकि वे उसे खोदकर नहीं देखते, वैसे ही यह हृदयाकाश सभी के भीतर है लेकिन जो इसे खोजते नहीं, उन्हें नहीं मिलता। साधना का अर्थ है इस आंतरिक खजाने को खोदना, अपने भीतर गहरे उतरना और उस सत्य को पाना जो सदा से वहां विद्यमान है।

दहर विद्या की साधना अत्यंत व्यावहारिक है। साधक को दिन में कुछ समय शांत बैठकर अपने हृदय पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। आंखें बंद करके, श्वास को शांत करके, मन को स्थिर करके हृदय के केंद्र पर ध्यान देना चाहिए। वहां एक प्रकाश की कल्पना करनी चाहिए, एक विशाल आकाश की अनुभूति करनी चाहिए। धीरे-धीरे यह कल्पना अनुभव में बदल जाती है। साधक को वास्तव में उस आकाश का अनुभव होने लगता है जो असीम और आनन्दमय है। यह अनुभव जीवन को परिवर्तित कर देता है।

9.4 प्रमुख उपदेश और दार्शनिक सिद्धांत

छान्दोग्य उपनिषद् का सबसे प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण योगदान है महावाक्य तत् त्वम् असि जिसका अर्थ है वह तू ही है या तुम वही हो। यह महावाक्य अद्वैत वेदांत का मूल आधार है और इसमें संपूर्ण वेदांत दर्शन का सार समाया हुआ है। यह उपदेश ऋषि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को दिया था और यह छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक में विस्तार से वर्णित है।

9.4.1 तत् त्वम् असि — महावाक्य

इस महावाक्य को समझने के लिए पहले इसके तीन शब्दों को समझना आवश्यक है। तत् का अर्थ है वह जो ब्रह्म को संदर्भित करता है, वह परम सत्य जो सर्वत्र व्याप्त है, जो सृष्टि का कारण है। त्वम् का अर्थ है तुम जो व्यक्तिगत आत्मा या जीवात्मा को संदर्भित करता है। और असि का अर्थ है हो। तो पूरा वाक्य



कहता है कि जीवात्मा और ब्रह्म एक ही हैं, दो नहीं। तुम जो अपने आप को एक सीमित, अलग व्यक्ति समझते हो, वास्तव में तुम वही असीम ब्रह्म हो।

यह शिक्षा देने के लिए उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अनेक उदाहरण दिए। उन्होंने कहा — बरगद के वृक्ष का एक बीज लाओ। श्वेतकेतु बीज लाया। उद्दालक ने कहा — इसे तोड़ो। श्वेतकेतु ने तोड़ा। उद्दालक ने पूछा — इसमें क्या देखते हो? श्वेतकेतु ने कहा — कुछ बहुत सूक्ष्म कण। उद्दालक ने कहा — उसे भी तोड़ो। श्वेतकेतु ने कहा — अब तो कुछ भी नहीं दिखता। तब उद्दालक ने कहा — देखो पुत्र, जो यह सूक्ष्म तत्व है जो दिखाई नहीं देता, उसी से यह विशाल वृक्ष बना है। वही सूक्ष्म तत्व संपूर्ण जगत का मूल है। स य एषोऽणिमा एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत् त्वम् असि श्वेतकेतो — जो यह अति सूक्ष्म है, यह सब उसी से बना है, वही सत्य है, वही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, तुम वही हो।

उद्दालक ने एक और उदाहरण दिया। उन्होंने कहा — एक पात्र में नमक घोल दो। अगले दिन उस पानी को चखो। श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। उद्दालक ने पूछा — ऊपर का पानी कैसा है? श्वेतकेतु ने कहा — नमकीन। नीचे का? — नमकीन। बीच का? — नमकीन। उद्दालक ने कहा — देखो, नमक दिखाई नहीं देता लेकिन सर्वत्र व्याप्त है। वैसे ही ब्रह्म दिखाई नहीं देता लेकिन सर्वत्र व्याप्त है। और तुम भी उसी ब्रह्म से अभिन्न हो। तत् त्वम् असि।

9.4.2 सत्यकाम जाबाल की कथा

सत्यकाम जाबाल की कथा छान्दोग्य उपनिषद् की सबसे प्रेरक और सुंदर कथाओं में से एक है। यह कथा सत्यनिष्ठा, नैतिक साहस और आध्यात्मिक योग्यता का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करती है। सत्यकाम एक युवक थे जो ब्रह्मविद्या सीखने के लिए उत्सुक थे। वे अपनी माता जाबाला के पास गए और कहा — माता, मैं गुरुकुल जाना चाहता हूँ और ब्रह्मविद्या सीखना चाहता हूँ। लेकिन गुरु हमारा गोत्र पूछेंगे। हमारा गोत्र क्या है? हमारे पिता कौन हैं?

जाबाला एक सेविका थी और उसे सत्यकाम के पिता के बारे में ज्ञान नहीं था। उसने अपने पुत्र से सच कह दिया — बेटा, मैं तुम्हारे पिता को नहीं जानती। मेरी युवावस्था में अनेक लोगों की सेवा करते हुए तुम्हारा जन्म हुआ। मेरा नाम जाबाला है, तुम्हारा नाम सत्यकाम है। तो तुम सत्यकाम जाबाल कह सकते हो। यह सुनकर सत्यकाम गुरु हारिद्रुमत गौतम के पास गए और उन्हें सब सच बता दिया।

गुरु हारिद्रुमत ने यह सुनकर कहा — हे बालक, कोई भी ब्राह्मण इतनी स्पष्टता से सत्य नहीं कह सकता। तुम निश्चित रूप से ब्राह्मण हो क्योंकि तुमने सत्य से विचलित नहीं हुए। तुम्हारी यह सत्यनिष्ठा ही तुम्हारी सबसे बड़ी योग्यता है। मैं तुम्हें उपनयन दूंगा और तुम्हें ब्रह्मविद्या सिखाऊंगा। यह कथा यह दर्शाती है कि आध्यात्मिक योग्यता जन्म से नहीं बल्कि चरित्र से आती है। सत्य की शक्ति सभी सामाजिक बंधनों से ऊपर है।

गुरु ने सत्यकाम को चार सौ दुर्बल गायों के साथ वन में भेज दिया और कहा कि जब ये एक हजार हो जाएं तो वापस आना। सत्यकाम वन में चले गए और वर्षों तक गायों की सेवा करते रहे। जब गायें एक हजार हो गईं, तो एक बैल ने सत्यकाम से कहा — हे सत्यकाम, अब हम एक हजार हो गए हैं। हमें गुरु



के पास वापस ले चलो। और मैं तुम्हें ब्रह्म के एक चरण के बारे में बताऊंगा। यह अद्भुत था – पशु ब्रह्मविद्या सिखा रहा था।

बैल ने कहा – ब्रह्म के चार चरण हैं। पूर्व दिशा एक चरण है, पश्चिम दिशा दूसरा, दक्षिण तीसरा और उत्तर चौथा। यह प्रकाशवान चरण है। इस प्रकार बैल, अग्नि, हंस और मद्गु पक्षी ने सत्यकाम को ब्रह्म के चार चरणों की शिक्षा दी। यह कथा यह दर्शाती है कि जब शिष्य तैयार होता है तो गुरु हर जगह से आ सकता है। ब्रह्मविद्या केवल पुस्तकों या मनुष्य गुरुओं से नहीं बल्कि संपूर्ण प्रकृति से सीखी जा सकती है। अंत में जब सत्यकाम गुरु के पास लौटे, तो गुरु ने उनकी ओर देखकर कहा – तुम्हारा चेहरा ब्रह्मवित्त के समान प्रकाशमान है। तुम्हें किसने उपदेश दिया? यह कथा सत्यनिष्ठा, धैर्य, समर्पण और विनम्रता जैसे गुणों का महत्व दर्शाती है।

9.4.3 नचिकेता और उद्दालक का संवाद

छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु के बीच अनेक संवाद हैं जो गहन आध्यात्मिक शिक्षाएं देते हैं। एक महत्वपूर्ण संवाद में श्वेतकेतु को उनके पिता गुरुकुल से वापस आने पर अहंकार से भरा हुआ पाते हैं। श्वेतकेतु ने बारह वर्ष तक अध्ययन किया था और सभी वेदों को कंठस्थ कर लिया था। वे स्वयं को बहुत विद्वान मानने लगे थे। उनके पिता ने यह देखा और उन्हें एक प्रश्न पूछा।

उद्दालक ने कहा – पुत्र, क्या तुमने उस एक को जान लिया जिसे जानने से सब कुछ जान लिया जाता है? क्या तुमने उस विद्या को सीखा जिससे जो नहीं सुना वह सुना जाता है, जो नहीं सोचा वह सोचा जाता है, जो नहीं जाना वह जाना जाता है? श्वेतकेतु चकित रह गए। उन्होंने कहा – पिताजी, ऐसी कौन सी विद्या है? मैंने तो ऐसी विद्या के बारे में नहीं सुना। कृपया मुझे सिखाइए।

तब उद्दालक ने उन्हें एक उदाहरण दिया। उन्होंने कहा – जैसे एक मिट्टी के ढेले को जानने से सभी मिट्टी की वस्तुओं को जान लिया जाता है, क्योंकि सभी का मूल तत्व मिट्टी ही है। वैसे ही जब तुम ब्रह्म को जान लेते हो, तो तुम सब कुछ जान लेते हो क्योंकि ब्रह्म ही सब कुछ का मूल है। सभी विविधता केवल नाम और रूप का भेद है, वास्तविकता तो एक ही है। यह संवाद वास्तविक ज्ञान और पुस्तकीय ज्ञान में अंतर स्पष्ट करता है।

उद्दालक ने आगे कहा – पुत्र, आरंभ में केवल सत् था, एक ही था, द्वितीय कुछ नहीं था। उस एक ने सोचा मैं अनेक हो जाऊं, मैं प्रजा उत्पन्न करूं। उससे तेज उत्पन्न हुआ, तेज से जल, जल से अन्न। इस प्रकार संपूर्ण सृष्टि उस एक सत् से उत्पन्न हुई। वह सत् ही सभी प्राणियों में आत्मा के रूप में प्रवेश कर गया। और श्वेतकेतु, तुम भी उसी सत् से अभिन्न हो – तत् त्वम् असि।

उद्दालक ने श्वेतकेतु को नौ बार यह उपदेश दिया, हर बार एक नए उदाहरण के साथ। नदियों का उदाहरण देते हुए कहा कि जैसे पूर्व की नदियां और पश्चिम की नदियां सभी समुद्र में मिलकर एक हो जाती हैं और फिर नहीं जानती कि मैं यह नदी थी या वह, वैसे ही सभी प्राणी ब्रह्म से उत्पन्न होकर अंत



में ब्रह्म में ही विलीन हो जाते हैं। यह संवाद छान्दोग्य उपनिषद् का सबसे महत्वपूर्ण अंश है जो अद्वैत के सिद्धांत को पूर्ण स्पष्टता से प्रस्तुत करता है।

बोध प्रश्न

1. छान्दोग्य उपनिषद् का नाम कैसे पड़ा?
2. उद्गीथ का क्या अर्थ है?
3. हृदयाकाश में क्या समाया हुआ है?
4. बरगद के बीज का उदाहरण क्यों दिया गया?
5. पंचाग्नि विद्या में कौन-कौन सी पांच अग्नियां हैं?
6. भूमा का क्या अर्थ है?
7. प्राण को श्रेष्ठ क्यों माना गया?
8. सत्यकाम के गुरु कौन थे?

9.5 अन्य महत्वपूर्ण शिक्षाएं

9.5.1 पंचाग्नि विद्या

पंचाग्नि विद्या छान्दोग्य उपनिषद् की एक महत्वपूर्ण और रहस्यमय विद्या है जो पंचम प्रपाठक में वर्णित है। इस विद्या में पांच अग्नियों का वर्णन है जो वास्तव में सृष्टि के पांच चरणों या स्तरों का प्रतीक हैं। यह विद्या बताती है कि मनुष्य कैसे जन्म लेता है और मृत्यु के बाद क्या होता है। यह पुनर्जन्म के सिद्धांत को विस्तार से समझाती है।

पहली अग्नि है स्वर्गलोक। यहां देवता पुरुष की आहुति देते हैं और उससे सोम उत्पन्न होता है। दूसरी अग्नि है पर्जन्य या बादल। यहां सोम की आहुति दी जाती है और वर्षा उत्पन्न होती है। तीसरी अग्नि है पृथ्वी। यहां वर्षा की आहुति दी जाती है और अन्न उत्पन्न होता है। चौथी अग्नि है पुरुष। यहां अन्न की आहुति दी जाती है और शुक्र या वीर्य उत्पन्न होता है। पांचवीं अग्नि है स्त्री। यहां शुक्र की आहुति दी जाती है और गर्भ में शिशु उत्पन्न होता है।

यह विद्या दर्शाती है कि संपूर्ण सृष्टि एक चक्रीय प्रक्रिया है। सूक्ष्म स्थूल बनता है और स्थूल फिर सूक्ष्म में परिवर्तित होता है। मनुष्य का जन्म अकस्मात् नहीं है बल्कि एक लंबी प्रक्रिया का परिणाम है। यह विद्या यह भी बताती है कि मृत्यु के बाद आत्मा कैसे स्वर्ग जाती है, फिर वर्षा बनती है, फिर अन्न, और अंततः फिर से मनुष्य शरीर में जन्म लेती है। यह चक्र तब तक चलता रहता है जब तक ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता।

पंचाग्नि विद्या दो मार्गों का भी वर्णन करती है – देवयान और पितृयान। जो लोग ज्ञान और तपस्या के मार्ग पर चलते हैं, वे मृत्यु के बाद देवयान मार्ग से जाते हैं जो सूर्य, चंद्रमा और ब्रह्मलोक तक पहुंचाता है। वहां से वे वापस नहीं लौटते। लेकिन जो लोग केवल कर्मकांड करते हैं और सांसारिक सुखों में लिप्त



रहते हैं, वे पितृयान मार्ग से जाते हैं और फिर से पृथ्वी पर जन्म लेते हैं। यह विद्या मोक्ष और पुनर्जन्म के बीच का अंतर स्पष्ट करती है।

9.5.2 भूम विद्या

भूम विद्या छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में वर्णित है और यह सनत्कुमार और नारद के बीच संवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है। नारद, जो महान ऋषि और वेदों के ज्ञाता थे, सनत्कुमार के पास गए और कहा कि मैंने सभी वेदों, इतिहास, गणित, और अनेक विद्याओं को सीख लिया है, फिर भी मुझे शांति नहीं मिली है। मैं अभी भी दुःखी हूँ। कृपया मुझे वह विद्या सिखाइए जो शोक से पार ले जाए।

सनत्कुमार ने कहा – जो कुछ तुमने सीखा है वह केवल नाम है। नाम से परे वाक् या वाणी है, वाणी से परे मन है, मन से परे संकल्प है, संकल्प से परे चित्त है, चित्त से परे ध्यान है। इस प्रकार सनत्कुमार ने नारद को क्रमशः सत्य की ओर ले जाते हुए कहा कि ध्यान से परे विज्ञान, विज्ञान से परे बल, बल से परे अन्न, अन्न से परे जल, जल से परे तेज, तेज से परे आकाश, आकाश से परे स्मृति, स्मृति से परे आशा है।

आशा से परे प्राण है और प्राण से परे सत्य है। सनत्कुमार ने कहा – जो सत्य है वही भूमा है, वही असीम है। छोटे में सुख नहीं है, सुख तो केवल भूमा में है, असीम में है। भूमा का अर्थ है वह जो विशाल है, असीम है, सर्वव्यापी है। वही ब्रह्म है। जो भूमा को जानता है, वह सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। यह भूम विद्या है – असीम की उपासना, ब्रह्म की उपासना।

भूम विद्या का सार यह है कि छोटे में, सीमित में, संतोष नहीं है। जब तक हम अपने आप को शरीर, मन, बुद्धि या किसी सीमित पहचान के साथ जोड़ते हैं, तब तक हम दुःखी रहेंगे। सुख केवल असीम में है, उस ब्रह्म में है जो सर्वत्र व्याप्त है। जब हम अपनी सीमाओं को तोड़ते हैं और अपने वास्तविक स्वरूप को जानते हैं, तो हम भूमा को, असीम को प्राप्त करते हैं। तब सभी शोक, सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं।

9.5.3 प्राण विद्या

प्राण विद्या छान्दोग्य उपनिषद् में अनेक स्थानों पर वर्णित है। यह विद्या प्राण या जीवन शक्ति की महिमा और उसकी उपासना का वर्णन करती है। एक प्रसिद्ध कथा में इंद्रियों – वाणी, आंख, कान, मन और प्राण – के बीच यह विवाद होता है कि उनमें से कौन श्रेष्ठ है। प्रत्येक इंद्रिय अपने आप को सबसे महत्वपूर्ण मानती है।

इस विवाद को सुलझाने के लिए उन्होंने यह निश्चय किया कि वे बारी-बारी से शरीर छोड़ेंगे और देखेंगे कि किसके बिना शरीर सबसे अधिक कष्ट में रहता है। पहले वाणी ने शरीर छोड़ा। एक वर्ष तक व्यक्ति मूक रहा, लेकिन जीवित रहा। फिर आंख ने शरीर छोड़ा। व्यक्ति अंधा हो गया लेकिन जीवित रहा। इसी प्रकार कान और मन ने भी शरीर छोड़ा, लेकिन व्यक्ति जीवित रहा।

अंत में जब प्राण शरीर छोड़ने लगा, तो सभी इंद्रियां उखड़ने लगीं। जैसे घोड़े अपनी खूंटियों को उखाड़ देते हैं, वैसे ही सभी इंद्रियां अपने स्थानों से हिलने लगीं। तब सभी इंद्रियों ने प्राण से विनती की और



कहा — हे प्राण, तुम श्रेष्ठ हो, शरीर मत छोड़ो। हम सभी तुम्हारे अधीन हैं। प्राण के बिना हम कुछ भी नहीं हैं। यह कथा दर्शाती है कि प्राण ही जीवन का आधार है।

प्राण विद्या की उपासना में साधक प्राण को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है। श्वास पर ध्यान देना, प्राणायाम करना, और प्राण की गति को समझना — यह सब प्राण विद्या का अंग है। उपनिषद् कहता है कि जो व्यक्ति प्राण को जानता है और उसकी उपासना करता है, वह दीर्घायु होता है, बलवान होता है, और ब्रह्म को प्राप्त करता है। प्राण वह सेतु है जो शरीर और आत्मा को जोड़ता है। प्राण को समझकर और उसे नियंत्रित करके व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार की ओर बढ़ता है।

9.6 छान्दोग्य उपनिषद् का समग्र संदेश

छान्दोग्य उपनिषद् का समग्र संदेश अत्यंत गहरा और व्यापक है। यह उपनिषद् हमें बताता है कि वास्तविकता एक है, यद्यपि वह अनेक रूपों में प्रकट होती है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और संपूर्ण जगत उसी का प्रकटीकरण है। यह संदेश तत् त्वम् असि महावाक्य में संक्षेपित है — तुम वही हो, तुम ब्रह्म से अभिन्न हो। यह ज्ञान केवल बौद्धिक नहीं है बल्कि अनुभवगम्य है और यह अनुभव जीवन को पूर्णतः परिवर्तित कर देता है।

दूसरा महत्वपूर्ण संदेश है कि ब्रह्म तक पहुंचने के अनेक मार्ग हैं। ओम की उपासना हो, प्राण की उपासना हो, हृदय में ब्रह्म की उपासना हो — सभी मार्ग उसी एक लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। यह समावेशिता भारतीय आध्यात्मिक परंपरा की विशेषता है। कोई एक मार्ग श्रेष्ठ नहीं है, सभी मार्ग वैध हैं। महत्वपूर्ण यह है कि साधक किसी एक मार्ग पर दृढ़ता से चले।

तीसरा संदेश है चरित्र और सत्यनिष्ठा का महत्व। सत्यकाम जाबाल की कथा यह स्पष्ट करती है कि आध्यात्मिक योग्यता जन्म, जाति या सामाजिक स्थिति से नहीं बल्कि चरित्र से आती है। जो व्यक्ति सत्यनिष्ठ है, विनम्र है, और साधना के प्रति समर्पित है, वही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। यह संदेश सामाजिक समानता और मानवीय गरिमा का प्रबल समर्थन करता है।

चौथा संदेश है कि ज्ञान केवल पुस्तकों से नहीं आता। श्वेतकेतु ने सभी वेदों को कंठस्थ कर लिया था लेकिन वास्तविक ज्ञान से वंचित थे। वास्तविक ज्ञान अनुभव से आता है, गुरु के मार्गदर्शन में साधना से आता है, और स्वयं के भीतर गहरे उतरने से आता है। पुस्तकीय ज्ञान महत्वपूर्ण है लेकिन वह साधन है, साध्य नहीं।

पांचवां संदेश है कि आध्यात्मिक जीवन और सांसारिक जीवन में विरोध नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् गृहस्थों के लिए भी मार्ग दिखाता है। पंचाग्नि विद्या, जो पारिवारिक जीवन और संतानोत्पत्ति को एक पवित्र यज्ञ के रूप में प्रस्तुत करती है, यह दर्शाती है कि सांसारिक जीवन में रहते हुए भी आध्यात्मिक विकास संभव है। वास्तव में हर कार्य, हर संबंध, हर अनुभव आध्यात्मिक विकास का साधन बन सकता है यदि उसे सही भाव से किया जाए।



छठा संदेश है असीम की खोज। भूम विद्या यह कहती है कि छोटे में, सीमित में सुख नहीं है। सुख केवल भूमा में है, असीम में है। हम धन, प्रसिद्धि, संबंध – सब कुछ में सुख खोजते हैं लेकिन ये सब सीमित हैं और इसलिए अपूर्ण संतोष देते हैं। वास्तविक और स्थायी सुख केवल ब्रह्म में है जो असीम है। यह संदेश आधुनिक मनुष्य के लिए अत्यंत प्रासंगिक है जो बाहरी उपलब्धियों में सुख खोज रहा है।

अंत में, छान्दोग्य उपनिषद् का संदेश आशा और संभावना का है। यह कहता है कि प्रत्येक मनुष्य में ब्रह्म को जानने की क्षमता है। चाहे हम कहीं भी हों, किसी भी परिस्थिति में हों, हम अपने वास्तविक स्वरूप को जान सकते हैं। हमारे हृदय में ही वह आकाश है जिसमें संपूर्ण ब्रह्मांड समाया है। हमें बस भीतर झांकने की, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने की आवश्यकता है। तत् त्वम् असि – तुम वही हो। यही इस महान उपनिषद् का शाश्वत और कालजयी संदेश है।

9.7 बोध प्रश्न

1. छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित ओम की महिमा और उद्गीथ उपासना का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. शांडिल्य विद्या क्या है? हृदय में ब्रह्म की उपासना के स्वरूप और महत्व को समझाइए।
3. तत् त्वम् असि महावाक्य का विस्तृत विवेचन करते हुए उद्दालक द्वारा दिए गए उदाहरणों को स्पष्ट कीजिए।
4. सत्यकाम जाबाल की कथा का सविस्तार वर्णन करते हुए उससे मिलने वाली शिक्षाओं को स्पष्ट कीजिए।
5. छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित पंचाग्नि विद्या और भूम विद्या की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए।
6. ओम की तीन मात्राओं का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
7. दहर विद्या क्या है? इसका क्या महत्व है?
8. श्वेतकेतु और उद्दालक के संवाद का सारांश प्रस्तुत कीजिए।
9. प्राण विद्या और इंद्रियों के विवाद की कथा को स्पष्ट कीजिए।
10. देवयान और पितृयान मार्ग में क्या अंतर है?
11. भूम विद्या में सनत्कुमार ने नारद को क्या उपदेश दिया?
12. छान्दोग्य उपनिषद् की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।



चतुर्थ खण्ड – आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध और उपसंहार

खण्ड परिचय

इस खण्ड में उपनिषदों की शिक्षा अपने चरम पर पहुँचती है। सबसे पहले ध्यानयोग की विधि बताई जाती है, जिसमें साधक मन को एकाग्र कर आत्मा के स्वरूप को पहचानने का अभ्यास करता है। इसके बाद आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की चर्चा होती है—यह समझाया जाता है कि आत्मा कोई अलग सत्ता नहीं है, बल्कि परमात्मा का ही अंश है। जब साधक ध्यान और आत्मचिंतन के माध्यम से इस सत्य को अनुभव करता है, तो उसे अद्वैत की अनुभूति होती है।

अगली इकाई में आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया गया है। यहाँ यह बताया गया है कि परमात्मा सर्वव्यापी, शुद्ध चेतना है और आत्मा उसी का प्रतिबिम्ब है। इस समझ से साधक के भीतर गहरी शांति और एकत्व का भाव उत्पन्न होता है।

अंतिम इकाई में उपनिषदों का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। इसमें यह दिखाया गया है कि विभिन्न उपनिषदों की शिक्षाएँ अलग-अलग मार्गों से चलकर अंततः एक ही सत्य की ओर ले जाती हैं—आत्मा और परमात्मा की अद्वैत एकता। इस प्रकार चौथा खण्ड उपनिषदों का उपसंहार है, जो साधक को यह बोध कराता है कि समस्त साधना और ज्ञान का अंतिम लक्ष्य आत्मा और परमात्मा का मिलन है।



इकाई 10

वृहदारण्यक उपनिषद्

इकाई संरचना

10.1 प्रस्तावना

- 10.1.1 वृहदारण्यक उपनिषद् का परिचय
- 10.1.2 उपनिषद् का महत्व एवं विशेषताएं

10.2 आत्मा की अवधारणा

- 10.2.1 आत्मा का स्वरूप
- 10.2.2 आत्मा की विशेषताएं
- 10.2.3 आत्मा और शरीर का संबंध

10.3 ज्ञान की अवधारणा

- 10.3.1 ज्ञान का स्वरूप और प्रकार
- 10.3.2 आत्मज्ञान की प्राप्ति
- 10.3.3 अविद्या और विद्या

10.4 आत्मा और परमात्मा का संयोग

- 10.4.1 जीवात्मा और परमात्मा
- 10.4.2 द्वैत और अद्वैत का विवेचन
- 10.4.3 एकत्व की अनुभूति

10.5 प्रमुख दार्शनिक शिक्षाएं

- 10.5.1 याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी संवाद
- 10.5.2 नेति नेति का सिद्धांत
- 10.5.3 अमृतत्व की प्राप्ति

10.6 वृहदारण्यक उपनिषद् का समग्र संदेश

10.7 बोध प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

वृहदारण्यक उपनिषद् भारतीय दर्शन और आध्यात्मिक साहित्य का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और प्राचीनतम ग्रंथ है। यह शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता की शतपथ ब्राह्मण की अंतिम छह अध्यायों का अंश है। इस उपनिषद् का नाम वृहदारण्यक दो शब्दों से मिलकर बना है — वृहद् अर्थात् विशाल और अरण्यक



अर्थात् वन में पढ़े जाने योग्य ग्रंथ। यह नाम इसके विस्तार और गहनता दोनों को दर्शाता है। यह उपनिषद् आकार में सबसे बड़ा उपनिषद् है और इसकी विषयवस्तु भी अत्यंत व्यापक और गहन है।

10.1.1 वृहदारण्यक उपनिषद् का परिचय

वृहदारण्यक उपनिषद् में छह अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में अनेक ब्राह्मण या खंड हैं। इसकी रचना का समय लगभग आठवीं से सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है, जो इसे सबसे प्राचीन उपनिषदों में से एक बनाता है। इस उपनिषद् की भाषा वैदिक संस्कृत है और इसकी शैली गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण है। कुछ भाग अत्यंत काव्यात्मक हैं तो कुछ भाग दार्शनिक विवेचन के रूप में हैं।

इस उपनिषद् का मुख्य प्रतिपादक महर्षि याज्ञवल्क्य हैं जो वैदिक काल के सबसे महान दार्शनिकों में से एक थे। याज्ञवल्क्य राजा जनक के दरबार में रहते थे और उन्होंने अनेक विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ किया। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्य के अनेक संवाद वर्णित हैं – उनकी पत्नी मैत्रेयी के साथ, राजा जनक के साथ, और अन्य ब्राह्मणों के साथ। ये संवाद न केवल दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं बल्कि साहित्यिक दृष्टि से भी उत्कृष्ट हैं।

वृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा, ब्रह्म, ज्ञान, मोक्ष, कर्म, पुनर्जन्म और ब्रह्मांड की उत्पत्ति जैसे मूलभूत दार्शनिक प्रश्नों का विस्तृत विवेचन है। यह उपनिषद् न केवल सैद्धांतिक दर्शन प्रस्तुत करता है बल्कि व्यावहारिक साधना का मार्ग भी दिखाता है। इसमें ध्यान, उपासना, संन्यास और गृहस्थ जीवन – सभी पहलुओं पर विचार किया गया है। यह उपनिषद् भारतीय दर्शन की नींव है और बाद के सभी दार्शनिक विचारों पर इसका गहरा प्रभाव है।

10.1.2 उपनिषद् का महत्व एवं विशेषताएं

वृहदारण्यक उपनिषद् का महत्व अनेक कारणों से है। सर्वप्रथम, यह उपनिषद् आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप की सबसे व्यवस्थित और गहन व्याख्या प्रस्तुत करता है। यहां आत्मा को केवल एक सिद्धांत के रूप में नहीं बल्कि अनुभवगम्य सत्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। याज्ञवल्क्य ने अपने संवादों में बार-बार यह स्पष्ट किया है कि आत्मज्ञान केवल बौद्धिक समझ नहीं है बल्कि एक गहन अनुभव है जो जीवन को पूर्णतः परिवर्तित कर देता है।

दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है इसका नेति नेति का सिद्धांत। यह सिद्धांत कहता है कि ब्रह्म को हम सकारात्मक शब्दों में परिभाषित नहीं कर सकते। हम केवल यह कह सकते हैं कि ब्रह्म यह नहीं है, वह नहीं है। नेति का अर्थ है नहीं यह और इसे दो बार कहकर जोर दिया गया है। यह नकारात्मक विधि वास्तव में अत्यंत गहन है क्योंकि यह हमें सभी सीमित धारणाओं से मुक्त करती है और असीम की ओर ले जाती है।

तीसरी विशेषता है इसकी संवाद शैली। वृहदारण्यक उपनिषद् में अनेक प्रेरक और शिक्षाप्रद संवाद हैं। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद विश्व साहित्य की उत्कृष्ट कृतियों में गिना जाता है। जब याज्ञवल्क्य संन्यास लेने की इच्छा प्रकट करते हैं और अपनी पत्नी मैत्रेयी से अपनी संपत्ति का विभाजन करना चाहते



हैं, तो मैत्रेयी पूछती हैं कि क्या इस संपत्ति से उन्हें अमरता मिल सकती है। याज्ञवल्क्य का उत्तर और उसके बाद का संवाद आत्मज्ञान की गहनता को दर्शाता है।

चौथी विशेषता है इसका समग्र दृष्टिकोण। वृहदारण्यक उपनिषद् केवल आध्यात्मिक विषयों तक सीमित नहीं है। यह सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक और यहां तक कि शारीरिक पहलुओं पर भी विचार करता है। इसमें पति-पत्नी के संबंध, शिक्षा, राजनीति, अर्थशास्त्र और दैनिक जीवन के अनेक विषयों पर चर्चा है। यह समग्रता इसे केवल एक दार्शनिक ग्रंथ नहीं बल्कि जीवन का पूर्ण मार्गदर्शक बनाती है।

पांचवीं विशेषता है इसकी गहन मनोवैज्ञानिक समझ। वृहदारण्यक उपनिषद् में स्वप्न, गहरी निद्रा और जागृत अवस्था का विस्तृत विश्लेषण है। यह बताता है कि इन तीनों अवस्थाओं में चेतना कैसे कार्य करती है और इन सबसे परे चौथी अवस्था – तुरीय – क्या है। यह विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान के लिए भी अत्यंत प्रासंगिक है। छठी विशेषता है इसका महावाक्य अहम् ब्रह्मास्मि – मैं ब्रह्म हूं। यह महावाक्य आत्मा और ब्रह्म की एकता को सबसे सरल और शक्तिशाली रूप में व्यक्त करता है।

10.2 आत्मा की अवधारणा

वृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा के स्वरूप का अत्यंत विस्तृत और गहन विवेचन है। आत्मा को यहां मनुष्य का वास्तविक स्वरूप बताया गया है। यह वह तत्त्व है जो सभी परिवर्तनों के बीच अपरिवर्तित रहता है, जो जन्म-मृत्यु से परे है और जो शाश्वत और अमर है। उपनिषद् कहता है कि जो कुछ हम बाहर से देखते हैं – यह शरीर, यह मन, यह बुद्धि – ये सब आत्मा के आवरण मात्र हैं। आत्मा इन सबसे भिन्न और परे है।

10.2.1 आत्मा का स्वरूप

याज्ञवल्क्य आत्मा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा हमारे सबसे भीतर का साक्षी है। यह वह है जो देखता है लेकिन स्वयं नहीं देखा जाता, जो सुनता है लेकिन स्वयं नहीं सुना जाता, जो सोचता है लेकिन स्वयं विचार का विषय नहीं बन सकता। आत्मा द्रष्टा है, श्रोता है, मंता है और विज्ञाता है। यह सभी अनुभवों का आधार है लेकिन स्वयं किसी अनुभव का विषय नहीं बन सकता। जैसे आंख सब कुछ देखती है लेकिन स्वयं को नहीं देख सकती, वैसे ही आत्मा सब कुछ जानता है लेकिन स्वयं ज्ञान का विषय नहीं बन सकता।

आत्मा को चेतन, आनन्दमय और अमर बताया गया है। यह केवल चेतना नहीं है बल्कि चैतन्य स्वरूप है – यह स्वयं चेतना का स्रोत है। सभी जीवित प्राणियों में जो चेतना है, वह इसी आत्मा की है। आत्मा आनन्द स्वरूप है – यह केवल सुखी नहीं है बल्कि स्वयं आनन्द है। बाहरी वस्तुओं से जो सुख मिलता है, वह वास्तव में आत्मा का ही प्रतिबिम्ब है। और आत्मा अमर है – इसका न जन्म है न मृत्यु। शरीर बदल सकता है, परिस्थितियां बदल सकती हैं, लेकिन आत्मा सदा एक सी रहती है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को असंग भी बताया गया है। यद्यपि आत्मा शरीर में प्रतीत होती है, यद्यपि यह मन और बुद्धि के माध्यम से कार्य करती है, फिर भी यह इन सबसे असंग है। जैसे कमल का



पत्ता जल में रहता है लेकिन जल से भीगता नहीं, वैसे ही आत्मा संसार में रहती है लेकिन संसार से प्रभावित नहीं होती। यह अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह बताती है कि हमारा वास्तविक स्वरूप किसी भी परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता। दुःख, कष्ट, पाप, पुण्य — ये सब मन और शरीर को प्रभावित करते हैं, आत्मा को नहीं।

10.2.2 आत्मा की विशेषताएं

वृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा की अनेक विशेषताओं का वर्णन है। पहली महत्वपूर्ण विशेषता है कि आत्मा सर्वव्यापी है। यद्यपि प्रत्येक शरीर में एक आत्मा प्रतीत होती है, वास्तव में आत्मा एक ही है जो सभी में व्याप्त है। जैसे एक ही सूर्य सभी घटों में प्रतिबिंबित होता है, वैसे ही एक ही आत्मा सभी प्राणियों में प्रकट होती है। यह अद्वैत का मूल सिद्धांत है — आत्मा अनेक नहीं है, केवल एक ही है।

दूसरी विशेषता है कि आत्मा निर्गुण है अर्थात् गुणों से परे है। आत्मा न अच्छी है न बुरी, न सुंदर है न असुंदर, न बड़ी है न छोटी। ये सभी विशेषताएं शरीर, मन या बुद्धि की हो सकती हैं, आत्मा की नहीं। आत्मा शुद्ध चेतना मात्र है जो सभी गुणों से परे है। जब हम कहते हैं कि मैं बुद्धिमान हूं या मैं दुर्बल हूं, तो यह गलत पहचान है। ये गुण शरीर या मन के हैं, हमारे वास्तविक स्वरूप के नहीं।

तीसरी विशेषता है कि आत्मा निर्विकार है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। शरीर बचपन से युवावस्था और फिर वृद्धावस्था में जाता है, मन के भाव बदलते रहते हैं, बुद्धि की समझ विकसित होती है — लेकिन आत्मा सदा एक सी रहती है। यह वह तत्व है जो सभी परिवर्तनों का साक्षी है लेकिन स्वयं अपरिवर्तनशील है। यदि आत्मा भी परिवर्तित होती तो हमें अपने बचपन की स्मृति नहीं होती। यह आत्मा की निरंतरता ही है जो हमें एक सुसंगत व्यक्तित्व प्रदान करती है।

चौथी विशेषता है कि आत्मा स्वप्रकाश है। इसे प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। वृहदारण्यक उपनिषद् में एक सुंदर उदाहरण दिया गया है। याज्ञवल्क्य राजा जनक से पूछते हैं — रात में जब सूर्य और चंद्रमा दोनों नहीं होते, और अग्नि भी नहीं है, तब मनुष्य किसके प्रकाश में कार्य करता है? जनक उत्तर नहीं दे पाते। याज्ञवल्क्य बताते हैं — आत्मा के प्रकाश में। आत्मा स्वयं प्रकाश है और सभी बाहरी प्रकाश उसी के कारण प्रकाशमान होते हैं।

पांचवीं विशेषता है कि आत्मा पूर्ण है। इसमें किसी चीज की कमी नहीं है। जो पूर्णता हम बाहर खोजते हैं, वह वास्तव में हमारे भीतर ही है। आत्मा को किसी चीज की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह स्वयं पूर्ण है। हमारी सभी इच्छाएं, सभी तृष्णाएं मन की हैं, आत्मा की नहीं। जब हम अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेते हैं, तो समझ आता है कि हम पहले से ही पूर्ण हैं, हमें कुछ भी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है।

10.2.3 आत्मा और शरीर का संबंध

वृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा और शरीर के संबंध को विस्तार से समझाया गया है। यह संबंध न तो पूर्ण तादात्म्य है न पूर्ण अलगाव। आत्मा शरीर में रहती है, शरीर के माध्यम से कार्य करती है, लेकिन स्वयं शरीर नहीं है। इस संबंध को समझने के लिए उपनिषद् अनेक उपमाएं देता है। एक उपमा है



तलवार और म्यान की। जैसे तलवार म्यान में रहती है लेकिन तलवार म्यान नहीं है, वैसे ही आत्मा शरीर में रहती है लेकिन शरीर नहीं है।

दूसरी उपमा है रथ और रथी की। शरीर रथ है, इंद्रियां घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है और आत्मा रथी या सवारी है। जैसे रथी रथ का स्वामी है लेकिन रथ नहीं है, वैसे ही आत्मा शरीर का स्वामी है लेकिन शरीर नहीं है। यह उपमा यह भी दर्शाती है कि जीवन में विभिन्न तत्वों की क्या भूमिका है। इंद्रियां हमें बाहरी जगत की ओर ले जाती हैं, मन उन्हें नियंत्रित करता है, बुद्धि दिशा देती है, लेकिन असली स्वामी आत्मा है।

आत्मा और शरीर का संबंध अस्थायी है। जब शरीर जन्म लेता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा जन्म ले रही है। जब शरीर मरता है, तो लगता है कि आत्मा मर रही है। लेकिन वास्तव में आत्मा न जन्मती है न मरती है। यह केवल एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जैसे एक व्यक्ति पुराने वस्त्र उतारकर नए वस्त्र धारण करता है, वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करती है।

लेकिन यह भी स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि आत्मा शरीर से भिन्न है, फिर भी जब तक हम शरीर में हैं, तब तक शरीर की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शरीर साधना का साधन है, यह मंदिर है जिसमें आत्मा रूपी देवता विराजमान है। इसलिए शरीर का सम्मान करना और उसकी उचित देखभाल करना आवश्यक है। लेकिन साथ ही यह भ्रम भी नहीं रखना चाहिए कि हम शरीर हैं। यह संतुलित दृष्टिकोण वृहदारण्यक उपनिषद् की विशेषता है।

बोध प्रश्न

1. वृहदारण्यक उपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
2. वृहदारण्यक उपनिषद् के मुख्य प्रतिपादक कौन हैं?
3. अहम् ब्रह्मास्मि किस उपनिषद् का महावाक्य है?
4. याज्ञवल्क्य की पत्नी का क्या नाम था?
5. नेति नेति का क्या अर्थ है?
6. वृहदारण्यक उपनिषद् में कितने अध्याय हैं?
7. आत्मा का क्या स्वरूप है?
8. राजा जनक किस नगर के राजा थे?
9. चेतना के कितने स्तर बताए गए हैं?
10. तुरीय का क्या अर्थ है?

सही या गलत बताइए

11. वृहदारण्यक उपनिषद् सामवेद से संबंधित है।
12. याज्ञवल्क्य महर्षि याज्ञवल्क्य के शिष्य थे।



13. आत्मा परिवर्तनशील है।
14. नेति नेति का अर्थ है यह भी नहीं, वह भी नहीं।
15. मैत्रेयी याज्ञवल्क्य की पत्नी थी।

10.3 ज्ञान की अवधारणा

10.3.1 ज्ञान का स्वरूप और प्रकार

वृहदारण्यक उपनिषद् में ज्ञान की अवधारणा को गहराई से समझाया गया है। उपनिषद् ज्ञान के दो मुख्य प्रकार बताता है – अपरा ज्ञान और परा ज्ञान। अपरा ज्ञान वह है जो हमें बाहरी जगत के बारे में जानकारी देता है। यह विज्ञान, कला, साहित्य, व्याकरण, गणित आदि सभी विषयों का ज्ञान है। यह ज्ञान निस्संदेह मूल्यवान है और सांसारिक जीवन के लिए आवश्यक है। लेकिन यह ज्ञान अपूर्ण है क्योंकि यह हमें हमारे वास्तविक स्वरूप के बारे में नहीं बताता।

परा ज्ञान या आत्मज्ञान वह ज्ञान है जो हमें हमारे वास्तविक स्वरूप के बारे में बताता है। यह ज्ञान है कि मैं कौन हूँ, मेरा स्रोत क्या है, मेरा लक्ष्य क्या है। यह ज्ञान केवल बौद्धिक समझ नहीं है बल्कि एक गहन अनुभव है। जब व्यक्ति को आत्मज्ञान होता है, तो उसका संपूर्ण दृष्टिकोण बदल जाता है। वह अपने आप को शरीर या मन के साथ नहीं बल्कि शुद्ध चेतना के साथ पहचानता है। यह ज्ञान सभी भयों, सभी दुःखों और सभी बंधनों से मुक्त कर देता है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने ज्ञान के तीन स्तरों का भी वर्णन किया है। पहला स्तर है श्रवण – गुरु या शास्त्रों से सुनना। जब हम उपनिषद्, गीता या किसी ज्ञानी से आध्यात्मिक सत्यों के बारे में सुनते हैं, तो यह श्रवण है। यह प्रारंभिक कदम है लेकिन यह पर्याप्त नहीं है। दूसरा स्तर है मनन – सुनी हुई बात पर गहराई से विचार करना, उसे तर्क की कसौटी पर परखना, उसे अपने अनुभव से मिलाना। यह बौद्धिक प्रक्रिया है जो आवश्यक है।

तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण स्तर है निदिध्यासन – गहन ध्यान में उस सत्य को आत्मसात करना। श्रवण और मनन के बाद साधक को ध्यान में बैठना चाहिए और उस सत्य को अपने अस्तित्व में उतारना चाहिए। यह केवल विचार नहीं रह जाता बल्कि एक जीवंत अनुभव बन जाता है। जब ये तीनों – श्रवण, मनन और निदिध्यासन – पूर्ण हो जाते हैं, तब वास्तविक ज्ञान होता है। यह ज्ञान परिवर्तनकारी है और साधक को मोक्ष की ओर ले जाता है।

10.3.2 आत्मज्ञान की प्राप्ति

आत्मज्ञान की प्राप्ति वृहदारण्यक उपनिषद् का मुख्य विषय है। उपनिषद् बताता है कि आत्मज्ञान कोई ऐसी चीज नहीं है जो बाहर से प्राप्त की जाए। आत्मा तो हमारा वास्तविक स्वरूप है, यह सदा से विद्यमान है। केवल अज्ञान के कारण हम इसे नहीं जानते। आत्मज्ञान का अर्थ है इस अज्ञान को हटाना



और अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना। यह एक खोज नहीं बल्कि एक खुलासा है, यह एक प्राप्ति नहीं बल्कि एक पहचान है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए सबसे पहले तीव्र जिज्ञासा आवश्यक है। व्यक्ति को यह प्रश्न उठना चाहिए कि मैं कौन हूँ। जब तक यह प्रश्न तीव्रता से नहीं उठता, तब तक खोज प्रारंभ नहीं होती। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आत्मज्ञान की इच्छा सबसे बड़ी इच्छा है क्योंकि यह सभी इच्छाओं को समाप्त कर देती है। जब व्यक्ति को आत्मज्ञान हो जाता है, तो उसे कुछ भी पाने की इच्छा नहीं रहती क्योंकि वह स्वयं पूर्ण हो जाता है।

दूसरी आवश्यकता है गुरु का मार्गदर्शन। यद्यपि आत्मा हमारे भीतर है, फिर भी इसे पहचानने के लिए एक ज्ञानी गुरु का मार्गदर्शन अत्यंत महत्वपूर्ण है। गुरु वह है जिसने स्वयं आत्मा का साक्षात्कार किया है और जो शिष्य को भी उसी अनुभव की ओर ले जा सकता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य स्वयं एक आदर्श गुरु के रूप में प्रस्तुत हैं। वे अपने शिष्यों को न केवल सिद्धांत बताते हैं बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव की ओर ले जाते हैं।

तीसरी आवश्यकता है विवेक और वैराग्य। विवेक का अर्थ है नित्य और अनित्य में भेद करने की क्षमता। साधक को यह समझना चाहिए कि क्या शाश्वत है और क्या क्षणिक है। शरीर, संपत्ति, संबंध — ये सब अनित्य हैं। केवल आत्मा नित्य है। वैराग्य का अर्थ है अनित्य वस्तुओं के प्रति आसक्ति का त्याग। यह संसार का त्याग नहीं है बल्कि संसार में आसक्ति का त्याग है। जब विवेक और वैराग्य विकसित होते हैं, तो साधक स्वाभाविक रूप से आत्मज्ञान की ओर बढ़ता है।

चौथी और अंतिम आवश्यकता है ध्यान और साधना। केवल बौद्धिक समझ से आत्मज्ञान नहीं होता। नियमित ध्यान, आत्म-चिंतन और आध्यात्मिक अनुशासन आवश्यक है। जब साधक नियमित रूप से ध्यान में बैठता है, अपने भीतर गहरे उतरता है, और अपने वास्तविक स्वरूप को खोजता है, तो धीरे-धीरे अज्ञान का पर्दा हटने लगता है। एक दिन अचानक वह प्रकाश फूटता है — साधक को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। यह बोध शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता, यह केवल अनुभव किया जा सकता है।

10.3.3 अविद्या और विद्या

वृहदारण्यक उपनिषद् में अविद्या और विद्या का गहन विवेचन है। अविद्या का अर्थ है अज्ञान या गलत ज्ञान। यह केवल ज्ञान का अभाव नहीं है बल्कि एक सक्रिय भ्रम है। अविद्या के कारण हम अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं और अपने आप को शरीर, मन या अहंकार के साथ पहचानने लगते हैं। यह गलत पहचान सभी दुःखों का मूल कारण है। जब हम अपने आप को शरीर मानते हैं, तो शरीर के दुःख हमारे दुःख बन जाते हैं। जब हम अपने आप को मन मानते हैं, तो मन की उथल-पुथल हमें विचलित करती है।

अविद्या के कारण ही हम संसार को वैसा देखते हैं जैसा यह नहीं है। हम नश्वर को शाश्वत समझते हैं, दुःख को सुख समझते हैं, और अशुद्ध को शुद्ध समझते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् में एक उपमा दी गई है — जैसे अंधेरे में कोई रस्सी को सांप समझ लेता है और भयभीत हो जाता है, वैसे ही अज्ञान में हम इस



परिवर्तनशील जगत को वास्तविक समझ लेते हैं और उसमें उलझ जाते हैं। जैसे प्रकाश आने पर पता चलता है कि वह सांप नहीं बल्कि रस्सी थी, वैसे ही आत्मज्ञान होने पर पता चलता है कि हम वह सीमित व्यक्ति नहीं हैं जो हमने अपने आप को समझा हुआ था।

विद्या या सही ज्ञान अविद्या का विनाश करती है। जब विद्या का उदय होता है, तो अविद्या स्वतः नष्ट हो जाती है। जैसे प्रकाश आने पर अंधकार अपने आप समाप्त हो जाता है, वैसे ही आत्मज्ञान होने पर अज्ञान समाप्त हो जाता है। विद्या हमें हमारे वास्तविक स्वरूप का बोध कराती है। यह बताती है कि हम शुद्ध चेतना हैं, हम आनन्द स्वरूप हैं, हम अमर हैं। यह ज्ञान न केवल बौद्धिक समझ है बल्कि एक जीवंत अनुभव है जो जीवन को पूर्णतः बदल देता है।

वृहदारण्यक उपनिषद् यह भी स्पष्ट करता है कि अविद्या कर्म और पुनर्जन्म का कारण है। जब तक अविद्या है, तब तक हम कर्म करते रहते हैं और उनके फल भोगते रहते हैं। यह चक्र जन्म-जन्मांतर तक चलता रहता है। लेकिन जब विद्या का उदय होता है, तो यह चक्र टूट जाता है। आत्मज्ञानी व्यक्ति भी कर्म करता है लेकिन उसके कर्म उसे बांधते नहीं। वह जानता है कि वास्तव में कर्ता कौन है और कर्म किसका है। यह ज्ञान उसे कर्म के बंधन से मुक्त कर देता है।

बोध प्रश्न

1. वृहदारण्यक उपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
 2. वृहदारण्यक उपनिषद् में कितने अध्याय हैं?
 3. मैत्रेयी कौन थी?
 4. आत्मा का मुख्य गुण क्या है?
 5. अविद्या का क्या अर्थ है?
-

10.4 आत्मा और परमात्मा का संयोग

10.4.1 जीवात्मा और परमात्मा

वृहदारण्यक उपनिषद् में जीवात्मा और परमात्मा के संबंध का गहन विवेचन है। साधारण दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि जीवात्मा और परमात्मा दो अलग-अलग तत्व हैं। जीवात्मा व्यक्तिगत आत्मा है जो शरीर में रहती है, जन्म-मृत्यु के चक्र से गुजरती है, और कर्मफल भोगती है। परमात्मा ब्रह्म है, वह सार्वभौमिक चेतना है जो संपूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त है, जो सृष्टि का कारण है और जो सभी परिवर्तनों से परे है।

लेकिन वृहदारण्यक उपनिषद् का मूल संदेश यह है कि जीवात्मा और परमात्मा वास्तव में दो नहीं हैं, एक ही हैं। जीवात्मा और परमात्मा के बीच का भेद केवल अज्ञान के कारण है। जब अज्ञान होता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि मैं एक सीमित प्राणी हूं, मैं शरीर में बंद हूं, मैं अलग हूं। लेकिन जब ज्ञान होता है, तो पता चलता है कि यह भेद मिथ्या था। वास्तव में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अंतर नहीं है।



इस सत्य को समझाने के लिए उपनिषद् अनेक उपमाएं देता है। एक प्रसिद्ध उपमा है लहर और समुद्र की। लहर समुद्र से अलग प्रतीत होती है — उसका अपना आकार है, अपनी गति है। लेकिन वास्तव में लहर समुद्र से अलग नहीं है, वह समुद्र का ही एक रूप है। जब लहर यह समझ लेती है कि मैं समुद्र हूं तो उसका भय समाप्त हो जाता है। वैसे ही जब जीवात्मा यह समझ लेती है कि मैं परमात्मा हूं तो सभी भय और दुःख समाप्त हो जाते हैं।

दूसरी उपमा है घट और आकाश की। घट के भीतर जो आकाश है, वह घट के बाहर के आकाश से अलग प्रतीत होता है। घट टूट जाए तो यह भेद समाप्त हो जाता है। वैसे ही शरीर रूपी घट के कारण आत्मा सीमित और अलग प्रतीत होती है। लेकिन जब यह भ्रम टूटता है, तो पता चलता है कि सभी जगह एक ही आत्मा है, एक ही परमात्मा है। यह महावाक्य अहम् ब्रह्मास्मि — मैं ब्रह्म हूं — इसी सत्य को व्यक्त करता है।

10.4.2 द्वैत और अद्वैत का विवेचन

वृहदारण्यक उपनिषद् में द्वैत और अद्वैत दोनों दृष्टिकोणों की चर्चा है। द्वैत का अर्थ है द्वैध या दो का भाव। यह दृष्टिकोण कहता है कि जीव और ब्रह्म अलग-अलग हैं। जीव उपासक है और ब्रह्म उपास्य है। जीव भक्त है और ब्रह्म भगवान है। यह दृष्टिकोण सामान्य मनुष्य के लिए सरल और स्वाभाविक है। जब हम प्रार्थना करते हैं, पूजा करते हैं, तो हम स्वाभाविक रूप से अपने आप को अलग मानते हैं और ब्रह्म को अलग।

द्वैत का अपना महत्व है। यह भक्ति का आधार है, यह उपासना का आधार है। जब तक अहंकार है, जब तक मैं का भाव है, तब तक द्वैत स्वाभाविक है। इस स्तर पर साधक ब्रह्म को अपने से श्रेष्ठ मानता है, उसकी शरण लेता है, उसकी कृपा की कामना करता है। यह साधना का एक महत्वपूर्ण चरण है जो साधक को शुद्ध करता है और ऊपर उठाता है।

लेकिन वृहदारण्यक उपनिषद् का अंतिम और सर्वोच्च संदेश अद्वैत का है। अद्वैत का अर्थ है अ-द्वैत, अर्थात् द्वैत का अभाव। यह दृष्टिकोण कहता है कि वास्तव में दो नहीं हैं, केवल एक ही है। जीव और ब्रह्म का भेद मिथ्या है, यह केवल अज्ञान के कारण प्रतीत होता है। जब ज्ञान होता है, तो यह भेद समाप्त हो जाता है। साधक समझ जाता है कि मैं और ब्रह्म अलग नहीं हैं। मैं ही ब्रह्म हूं, ब्रह्म ही मैं हूं।

अद्वैत का अनुभव साधना की परम अवस्था है। यहां न कोई उपासक रहता है न उपास्य, न कोई भक्त रहता है न भगवान। केवल एक अखंड चेतना रहती है जो सर्वत्र व्याप्त है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जहां दूसरा नहीं है, वहां भय कैसा? जहां दूसरा नहीं है, वहां दुःख कैसा? जब सब कुछ एक है, तो फिर किसी चीज की कमी कैसी? यह अद्वैत का अनुभव परम शांति, परम आनन्द और परम मुक्ति है।

10.4.3 एकत्व की अनुभूति

एकत्व की अनुभूति वृहदारण्यक उपनिषद् का चरम लक्ष्य है। यह केवल एक बौद्धिक समझ नहीं है कि सब एक है, बल्कि यह एक गहन अनुभव है जो साधक के संपूर्ण अस्तित्व को बदल देता है। जब साधक



को एकत्व की अनुभूति होती है, तो उसके लिए संपूर्ण जगत परिवर्तित हो जाता है। वह सभी प्राणियों में, सभी वस्तुओं में, सभी घटनाओं में एक ही चेतना को देखता है।

एकत्व की अनुभूति के कई स्तर हैं। प्रथम स्तर पर साधक को यह अनुभव होता है कि सभी जीवों में एक ही आत्मा है। पशु हो या पक्षी, कीट हो या मनुष्य — सभी में वही एक चेतना कार्यरत है। यह अनुभव करुणा और प्रेम को जन्म देता है। जब हम सभी में अपने आप को देखते हैं, तो किसी को भी दुःख देना असंभव हो जाता है। यह अहिंसा का वास्तविक आधार है।

दूसरे स्तर पर साधक को यह अनुभव होता है कि केवल जीवित प्राणियों में ही नहीं बल्कि निर्जीव प्रकृति में भी वही एक तत्व व्याप्त है। पत्थर हो या पानी, वृक्ष हो या पर्वत — सभी में वही एक ब्रह्म है। यह अनुभव संपूर्ण प्रकृति के प्रति सम्मान और श्रद्धा को जन्म देता है। साधक समझ जाता है कि यह संपूर्ण ब्रह्मांड एक विशाल जीवंत संपूर्णता है जिसमें सब कुछ परस्पर जुड़ा हुआ है।

तीसरे और सर्वोच्च स्तर पर साधक को यह अनुभव होता है कि केवल बाहरी जगत में ही नहीं बल्कि सभी अनुभवों में, सभी विचारों में, सभी भावनाओं में वही एक ब्रह्म है। सुख हो या दुःख, सफलता हो या असफलता, जीवन हो या मृत्यु — सभी में वही एक तत्व खेल रहा है। यह अनुभव परम स्वीकार और परम शांति को जन्म देता है। साधक को किसी चीज से शिकायत नहीं रहती क्योंकि वह जानता है कि सब कुछ उसी एक का खेल है। यह एकत्व की पूर्ण अनुभूति है जो मोक्ष है।

10.5 प्रमुख दार्शनिक शिक्षाएं

10.5.1 याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी संवाद

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद वृहदारण्यक उपनिषद् का सबसे प्रसिद्ध और मार्मिक अंश है। यह संवाद न केवल दार्शनिक दृष्टि से गहन है बल्कि मानवीय संवेदनाओं से भी भरा हुआ है। कथा इस प्रकार है — महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थीं — मैत्रेयी और कात्यायनी। जब याज्ञवल्क्य ने निश्चय किया कि अब वे गृहस्थ जीवन छोड़कर संन्यास लेंगे, तो उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों के बीच अपनी संपत्ति का विभाजन करने का निर्णय लिया।

जब याज्ञवल्क्य ने यह बात मैत्रेयी से कही, तो मैत्रेयी ने एक गहन प्रश्न पूछा — हे आर्य, यदि यह संपूर्ण पृथ्वी धन से भरी हुई मेरी हो जाए, तो क्या उससे मुझे अमृतत्व मिल सकता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया — नहीं, तुम्हारा जीवन धनवानों के जीवन जैसा हो जाएगा, लेकिन धन से अमृतत्व की कोई आशा नहीं है। तब मैत्रेयी ने कहा — जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसका मैं क्या करूंगी? हे भगवन, जिससे मैं अमर हो सकूँ, वह मुझे बताइए।

यह प्रश्न असाधारण है। यह दर्शाता है कि मैत्रेयी केवल एक सामान्य गृहिणी नहीं थीं बल्कि एक गहन जिज्ञासु थीं। वे जानना चाहती थीं कि जीवन का वास्तविक अर्थ क्या है, मृत्यु से पार जाने का मार्ग क्या है। याज्ञवल्क्य इस प्रश्न से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा — तुम मुझे प्रिय हो और प्रिय बात कहती हो। आओ, मैं तुम्हें समझाता हूँ, ध्यान से सुनो।



तब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को समझाया कि पति को पत्नी प्रिय नहीं होती पति के लिए, बल्कि आत्मा के लिए पति प्रिय होता है। पत्नी को पति प्रिय नहीं होता पत्नी के लिए, बल्कि आत्मा के लिए पत्नी प्रिय होती है। इसी प्रकार पुत्र, धन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता — सभी आत्मा के लिए प्रिय हैं। वास्तव में प्रिय तो केवल आत्मा है। जब हम किसी को प्रेम करते हैं, तो वास्तव में हम उसमें आत्मा को ही प्रेम करते हैं। इसलिए आत्मा को देखना चाहिए, आत्मा को सुनना चाहिए, आत्मा का चिंतन करना चाहिए, आत्मा का ध्यान करना चाहिए। जब आत्मा को जान लिया जाता है, तो सब कुछ जान लिया जाता है।

10.5.2 नेति नेति का सिद्धांत

नेति नेति वृहदारण्यक उपनिषद् का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और गहन सिद्धांत है। नेति का अर्थ है यह नहीं। इसे दो बार कहकर — नेति नेति — जोर दिया गया है कि ब्रह्म को सकारात्मक शब्दों में परिभाषित नहीं किया जा सकता। हम केवल यह कह सकते हैं कि ब्रह्म यह नहीं है, वह नहीं है। यह नकारात्मक विधि वास्तव में अत्यंत सकारात्मक है क्योंकि यह हमें सभी सीमित धारणाओं से मुक्त करती है।

नेति नेति का अर्थ यह है कि जो कुछ भी हम देख सकते हैं, सुन सकते हैं, छू सकते हैं, सोच सकते हैं — ब्रह्म वह नहीं है। ब्रह्म को हम कह नहीं सकते कि वह सफेद है, क्योंकि रंग एक सीमा है। हम नहीं कह सकते कि वह बड़ा है, क्योंकि आकार एक सीमा है। हम नहीं कह सकते कि वह यहां है, क्योंकि स्थान एक सीमा है। ब्रह्म सभी सीमाओं से परे है, इसलिए उसे किसी सीमित विशेषता से नहीं जोड़ा जा सकता।

नेति नेति की प्रक्रिया एक प्रकार की आध्यात्मिक खुदाई है। जैसे कोई स्वर्ण खोजने के लिए मिट्टी, पत्थर, अयस्क को हटाता जाता है, वैसे ही साधक नेति नेति कहते हुए सभी असत्य को हटाता जाता है। शरीर — नेति, यह मैं नहीं हूं। प्राण — नेति, यह मैं नहीं हूं। मन — नेति, यह मैं नहीं हूं। बुद्धि — नेति, यह मैं नहीं हूं। जब सभी यह मैं नहीं हूं को हटा दिया जाता है, तो जो शेष रहता है, वही आत्मा है, वही ब्रह्म है।

नेति नेति की यह प्रक्रिया हमें सभी मिथ्या पहचानों से मुक्त करती है। हम अपने आप को नाम, रूप, जाति, राष्ट्रीयता, पेशा — अनेक चीजों से पहचानते हैं। लेकिन ये सभी पहचानें सीमित हैं और परिवर्तनशील हैं। नेति नेति हमें इन सभी से मुक्त करता है और हमारे वास्तविक स्वरूप — शुद्ध चेतना — को प्रकट करता है। यह एक नकारात्मक विधि है लेकिन इसका परिणाम परम सकारात्मक है — आत्मसाक्षात्कार।

10.5.3 अमृतत्व की प्राप्ति

अमृतत्व की प्राप्ति वृहदारण्यक उपनिषद् का अंतिम लक्ष्य है। यहां अमृतत्व का अर्थ शारीरिक अमरता नहीं है बल्कि मृत्यु के भय से मुक्ति है। उपनिषद् कहता है कि जो व्यक्ति आत्मा को जान लेता है, वह अमृत हो जाता है। उसे यह अनुभव होता है कि उसका वास्तविक स्वरूप शरीर नहीं है, इसलिए शरीर की मृत्यु से उसका कोई नुकसान नहीं होता। आत्मा न जन्मती है न मरती है, यह शाश्वत और अमर है।



अमृतत्व की प्राप्ति का अर्थ है जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति। जब तक अज्ञान है, तब तक जीव बार-बार जन्म लेता है और मरता है। कर्म करता है और उनके फल भोगता है। यह चक्र अनंत काल तक चल सकता है। लेकिन जब आत्मज्ञान होता है, तो यह चक्र टूट जाता है। आत्मज्ञानी व्यक्ति जानता है कि वह न कर्ता है न भोक्ता। वह केवल साक्षी है। इस ज्ञान से वह कर्म के बंधन से मुक्त हो जाता है और पुनर्जन्म से भी।

अमृतत्व का एक और अर्थ है परम आनन्द की प्राप्ति। मृत्यु का भय सबसे बड़ा भय है और यही सभी अन्य भयों का मूल है। जब मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है, तो सभी भय समाप्त हो जाते हैं। और जहां भय नहीं है, वहां परम शांति और परम आनन्द है। वृहदारण्यक उपनिषद् कहता है – असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा मृतं गमय – असत्य से सत्य की ओर ले चलो, अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो।

अमृतत्व की प्राप्ति इस जीवन में ही संभव है। उपनिषद् कहता है – इहैव सन्तो अथ विद्मः – यहीं, इसी जीवन में जानना चाहिए। मृत्यु के बाद के लिए प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। जो व्यक्ति इस जीवन में आत्मा को जान लेता है, वह जीवनमुक्त हो जाता है। वह शरीर में रहते हुए भी मुक्त है। उसके लिए कोई बंधन नहीं रहता, कोई भय नहीं रहता, कोई दुःख नहीं रहता। यह परम लक्ष्य है, यह परम सिद्धि है, यह अमृतत्व है।

बोध प्रश्न

1. वृहदारण्यक उपनिषद् का नाम कैसे पड़ा?
 2. याज्ञवल्क्य कौन थे?
 3. आत्मा की क्या विशेषताएं हैं?
 4. अहम् ब्रह्मास्मि का क्या अर्थ है?
 5. नेति नेति का क्या अर्थ है?
 6. स्वप्रकाश से क्या तात्पर्य है?
 7. रथ और रथी की उपमा को स्पष्ट कीजिए।
 8. जीवनमुक्त कौन है?
-

10.6 वृहदारण्यक उपनिषद् का समग्र संदेश

वृहदारण्यक उपनिषद् का समग्र संदेश अत्यंत गहरा और व्यापक है। यह उपनिषद् हमें बताता है कि हमारा वास्तविक स्वरूप शुद्ध चेतना है जो सभी परिवर्तनों से परे है। हम न शरीर हैं, न मन हैं, न बुद्धि हैं। हम वह साक्षी हैं जो इन सबको देखता है। यह ज्ञान केवल बौद्धिक समझ नहीं है बल्कि एक जीवंत अनुभव है जो जीवन को पूर्णतः परिवर्तित कर देता है।

दूसरा महत्वपूर्ण संदेश है कि जीवात्मा और परमात्मा एक हैं। अहम् ब्रह्मास्मि – मैं ब्रह्म हूं – यह महावाक्य इस सत्य को सबसे सरल और शक्तिशाली रूप में व्यक्त करता है। यह कोई अहंकार की उक्ति



नहीं है बल्कि परम विनम्रता की अभिव्यक्ति है। जब हम कहते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ, तो हम छोटे मैं — अहंकार को नकार रहे होते हैं और बड़े मैं — सार्वभौमिक चेतना के साथ पहचान कर रहे होते हैं।

तीसरा संदेश है नेति नेति का सिद्धांत। यह सिखाता है कि ब्रह्म को सकारात्मक शब्दों में परिभाषित नहीं किया जा सकता। हम केवल यह कह सकते हैं कि वह यह नहीं है, वह नहीं है। यह नकारात्मक विधि वास्तव में हमें सभी सीमित धारणाओं से मुक्त करती है और असीम की अनुभूति कराती है। यह हमें सिखाती है कि ब्रह्म शब्दों, विचारों और मन से परे है।

चौथा संदेश है कि वास्तविक प्रेम आत्मा का प्रेम है। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद यह दर्शाता है कि जब हम किसी को प्रेम करते हैं, तो वास्तव में हम उसमें आत्मा को ही प्रेम करते हैं। यदि प्रेम केवल शरीर, रूप या गुणों का है, तो वह स्थायी नहीं हो सकता। लेकिन यदि प्रेम आत्मा का है, तो वह शाश्वत है। यह संदेश मानवीय संबंधों को एक नई गहराई देता है।

पांचवां संदेश है कि ज्ञान से ही मुक्ति है। कर्म आवश्यक हैं, उपासना महत्वपूर्ण है, लेकिन अंतिम मुक्ति केवल ज्ञान से होती है। जब हम अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेते हैं, तो सभी बंधन टूट जाते हैं। यह ज्ञान श्रवण, मनन और निदिध्यासन से प्राप्त होता है — सुनने से, सोचने से और गहन ध्यान से।

छठा संदेश है कि अमृतत्व इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है। मृत्यु के बाद के लिए प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। जो व्यक्ति आत्मा को जान लेता है, वह जीवनमुक्त हो जाता है। वह शरीर में रहते हुए भी मुक्त है, उसे कोई भय नहीं रहता, कोई दुःख नहीं रहता। यह वृहदारण्यक उपनिषद् का शाश्वत और कालजयी संदेश है।

10.7 बोध प्रश्न

1. वृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित आत्मा के स्वरूप और विशेषताओं का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. ज्ञान की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए अविद्या और विद्या के बीच के अंतर को समझाइए।
3. जीवात्मा और परमात्मा के संयोग का विवेचन करते हुए द्वैत और अद्वैत के सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।
4. याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद का सविस्तार वर्णन करते हुए इससे मिलने वाली शिक्षाओं को स्पष्ट कीजिए।
5. नेति नेति के सिद्धांत का विस्तृत विवेचन करते हुए इसकी वर्तमान प्रासंगिकता पर प्रकाश डालिए।
6. आत्मा और शरीर के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
7. आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए क्या आवश्यक है?
8. श्रवण, मनन और निदिध्यासन को समझाइए।
9. एकत्व की अनुभूति क्या है? इसके विभिन्न स्तरों का वर्णन कीजिए।
10. अमृतत्व की प्राप्ति का क्या अर्थ है?



11. वृहदारण्यक उपनिषद् की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
12. अपरा ज्ञान और परा ज्ञान में क्या अंतर है?



इकाई 11

श्वेताश्वतरोपनिषद्—ध्यानयोग की विधि और महत्व, ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान मोक्ष प्राप्ति

इकाई संरचना

11.1 प्रस्तावना

- 11.1.1 श्वेताश्वतरोपनिषद् का परिचय
- 11.1.2 उपनिषद् का महत्व एवं विशेषताएं

11.2 ध्यानयोग

- 11.2.1 ध्यानयोग की विधि और महत्व
- 11.2.2 ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान
- 11.2.3 प्राणायाम का क्रम और महत्ता

11.3 योगसिद्धि

- 11.3.1 योगसिद्धि के पूर्व लक्षण
- 11.3.2 योगसिद्धि का महत्व
- 11.3.3 तत्त्वज्ञान की प्राप्ति

11.4 परमेश्वर

- 11.4.1 परमेश्वर का स्वरूप
- 11.4.2 परमेश्वर की महिमा
- 11.4.3 ईश्वर की सर्वव्यापकता

11.5 साधना और मोक्ष

- 11.5.1 ईश्वरप्राप्ति के साधन
- 11.5.2 मोक्ष की प्राप्ति
- 11.5.3 भक्ति और ज्ञान का समन्वय

11.6 बोध प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

श्वेताश्वतरोपनिषद् भारतीय दर्शन और आध्यात्मिक साहित्य का एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपनिषद् है जो कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से संबंधित है। इस उपनिषद् का नाम महर्षि श्वेताश्वतर के नाम पर पड़ा है जो इसके मुख्य प्रतिपादक थे। श्वेताश्वतर एक महान योगी और तत्त्वज्ञानी थे जिन्होंने गहन तपस्या



और ध्यान के माध्यम से परमतत्त्व का साक्षात्कार किया था। उन्होंने अपने अनुभवों और ज्ञान को इस उपनिषद् में संकलित किया है।

11.1.1 श्वेताश्वतरोपनिषद् का परिचय

यह उपनिषद् अपनी विशिष्ट शैली और विषयवस्तु के कारण अन्य उपनिषदों से कुछ भिन्न है। जहां अधिकांश उपनिषद् अद्वैत वेदांत के सिद्धांतों पर बल देते हैं, वहीं श्वेताश्वतरोपनिषद् में अद्वैत के साथ-साथ भक्ति और योग का भी सुंदर समन्वय मिलता है। यह उपनिषद् ईश्वर को व्यक्तिगत रूप में भी स्वीकार करता है और निर्गुण ब्रह्म के साथ-साथ सगुण ईश्वर की उपासना का भी मार्ग बताता है। यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण इस उपनिषद् की सबसे बड़ी विशेषता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कुल छह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में ब्रह्म के स्वरूप और जगत की उत्पत्ति के बारे में प्रश्न उठाए गए हैं। द्वितीय अध्याय में ध्यानयोग की विस्तृत विधि दी गई है। तृतीय अध्याय में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में ईश्वर की महिमा और उसकी सर्वव्यापकता का वर्णन है। पंचम अध्याय में ब्रह्म, माया और जीव के संबंध की व्याख्या है। और षष्ठ अध्याय में मोक्ष के मार्ग का वर्णन है। इस उपनिषद् की रचना का समय लगभग पांचवीं से चौथी शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। इसकी भाषा काव्यात्मक संस्कृत है और इसके अधिकांश श्लोक छंदबद्ध हैं। इसकी शैली अत्यंत सुंदर और प्रभावशाली है। श्वेताश्वतरोपनिषद् न केवल दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है बल्कि साहित्यिक दृष्टि से भी उत्कृष्ट है। इसके श्लोक इतने सुंदर और गहन हैं कि वे हृदय को स्पर्श करते हैं और मन को आध्यात्मिक उत्साह से भर देते हैं।

11.1.2 उपनिषद् का महत्व एवं विशेषताएं

श्वेताश्वतरोपनिषद् का महत्व अनेक कारणों से है। सर्वप्रथम, यह उपनिषद् योग साधना की व्यावहारिक विधि प्रस्तुत करता है। जहां अन्य उपनिषद् मुख्यतः दार्शनिक सिद्धांतों पर ध्यान देते हैं, वहीं श्वेताश्वतरोपनिषद् यह बताता है कि व्यावहारिक रूप से साधना कैसे करनी चाहिए। यह ध्यान की विधि, प्राणायाम का क्रम, बैठने का स्थान, साधना का समय – सभी विषयों पर विस्तृत मार्गदर्शन देता है। यह व्यावहारिकता इस उपनिषद् को साधकों के लिए अत्यंत उपयोगी बनाती है।

दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है इसका समन्वयात्मक दृष्टिकोण। श्वेताश्वतरोपनिषद् ज्ञान, भक्ति और योग तीनों मार्गों को समान महत्व देता है। यह कहता है कि ये तीनों मार्ग एक-दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। ज्ञान के बिना भक्ति अंधी हो सकती है, भक्ति के बिना ज्ञान शुष्क हो सकता है, और योग के बिना दोनों अपूर्ण रह सकते हैं। इसलिए यह उपनिषद् तीनों का सुंदर समन्वय प्रस्तुत करता है।

तीसरी विशेषता है इसका ईश्वरवादी दृष्टिकोण। जहां कुछ उपनिषद् केवल निर्गुण ब्रह्म की बात करते हैं, वहीं श्वेताश्वतरोपनिषद् सगुण ईश्वर को भी स्वीकार करता है। यह ईश्वर को जगत का कर्ता, धर्ता और संहर्ता मानता है। यह ईश्वर को प्रेम और भक्ति का विषय भी मानता है। यह दृष्टिकोण भक्ति मार्ग के साधकों के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। यह दर्शाता है कि ईश्वर केवल एक अमूर्त सिद्धांत नहीं है बल्कि एक जीवंत वास्तविकता है जिसके साथ व्यक्तिगत संबंध स्थापित किया जा सकता है।



चौथी विशेषता है इसकी गहन मनोवैज्ञानिक समझ। श्वेताश्वरोपनिषद् मन की कार्यप्रणाली को गहराई से समझता है। यह बताता है कि मन कैसे कार्य करता है, विचार कैसे उत्पन्न होते हैं, और मन को कैसे नियंत्रित किया जा सकता है। यह समझ आधुनिक मनोविज्ञान के लिए भी अत्यंत प्रासंगिक है। इसके अतिरिक्त यह उपनिषद् योगसिद्धि के पूर्व लक्षणों का भी वर्णन करता है जो साधक को यह बताते हैं कि उसकी साधना सही दिशा में जा रही है या नहीं।

पांचवीं विशेषता है इसका सकारात्मक और आशावादी दृष्टिकोण। यह उपनिषद् कहता है कि प्रत्येक मनुष्य में परमात्मा को जानने और उसे प्राप्त करने की क्षमता है। चाहे व्यक्ति की वर्तमान स्थिति कैसी भी हो, वह साधना के माध्यम से उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यह संदेश प्रेरणादायक है और साधक को निरंतर प्रयास करने के लिए उत्साहित करता है।

11.2 ध्यानयोग

11.2.1 ध्यानयोग की विधि और महत्व

श्वेताश्वतरोपनिषद् के द्वितीय अध्याय में ध्यानयोग की विस्तृत और व्यावहारिक विधि दी गई है। यह अध्याय उन साधकों के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जो योग साधना के माध्यम से आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं। उपनिषद् कहता है कि ध्यानयोग वह मार्ग है जिससे साधक अपने भीतर छिपी हुई दिव्य शक्ति को जगा सकता है और परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है।

ध्यानयोग का आरंभ प्राणायाम से होता है। उपनिषद् बताता है कि पहले साधक को अपने श्वास को नियंत्रित करना चाहिए। श्वास ही प्राण है और प्राण ही जीवन का आधार है। जब श्वास नियंत्रित हो जाता है, तो मन भी शांत हो जाता है। क्योंकि श्वास और मन में गहरा संबंध है। जब श्वास तेज और अनियमित होता है, तो मन भी चंचल होता है। और जब श्वास धीमा और नियमित होता है, तो मन भी स्थिर हो जाता है।

प्राणायाम के बाद साधक को धारणा का अभ्यास करना चाहिए। धारणा का अर्थ है मन को एक बिंदु पर केंद्रित करना। यह बिंदु कुछ भी हो सकता है — हृदय में स्थित प्रकाश, भ्रूमध्य में स्थित तीसरी आंख, या किसी देवता का रूप। महत्वपूर्ण यह है कि मन एक स्थान पर स्थिर हो जाए। जब धारणा पूर्ण हो जाती है, तो वह ध्यान में परिवर्तित हो जाती है।

ध्यान की अवस्था में साधक का मन पूर्णतः एकाग्र हो जाता है। बाहरी जगत की सभी आवाजें, सभी विकर्षण समाप्त हो जाते हैं। साधक केवल अपने ध्येय में लीन रहता है। यह अवस्था अत्यंत शांतिपूर्ण और आनन्दमय होती है। जब यह ध्यान और गहरा हो जाता है, तो वह समाधि में परिवर्तित हो जाता है। समाधि में साधक और ध्येय का भेद मिट जाता है। साधक स्वयं ध्येय बन जाता है। यह परम अनुभव है जो शब्दों से परे है।

11.2.2 ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान



श्वेताश्वतरोपनिषद् ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान के बारे में विस्तृत मार्गदर्शन देता है। उपनिषद् कहता है कि साधना के लिए स्थान का चयन अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि बाहरी वातावरण हमारे भीतरी अवस्था को प्रभावित करता है। यदि स्थान शांत, पवित्र और सकारात्मक ऊर्जा से भरा है, तो साधना सहज हो जाती है। लेकिन यदि स्थान अशांत, प्रदूषित और नकारात्मक ऊर्जा से भरा है, तो साधना में कठिनाई होती है। उपनिषद् बताता है कि साधना के लिए समतल, स्वच्छ और पवित्र भूमि का चयन करना चाहिए। यह स्थान ऐसा होना चाहिए जहां अधिक शोर-शराबा न हो, जहां साधक को बार-बार विघ्न न पड़े। यह स्थान प्राकृतिक सौंदर्य से युक्त हो तो और भी अच्छा है – नदी के किनारे, पर्वत की गुफा में, या वन के एकांत में। प्रकृति की शांति और सौंदर्य साधना में सहायक होते हैं। जल का कलकल नाद, पक्षियों का कलरव, वृक्षों की सरसराहट – ये सभी मन को शांत करते हैं।

घर में साधना करने के लिए एक विशेष कक्ष या कोना निर्धारित करना चाहिए। यह स्थान केवल साधना के लिए आरक्षित होना चाहिए। जब हम नियमित रूप से एक ही स्थान पर साधना करते हैं, तो वह स्थान विशेष आध्यात्मिक ऊर्जा से संपन्न हो जाता है। जैसे ही हम उस स्थान पर बैठते हैं, मन स्वतः शांत और एकाग्र होने लगता है। इस स्थान को स्वच्छ और सुसज्जित रखना चाहिए। धूप, दीप और फूलों से इसे सजाया जा सकता है। यह बाहरी सजावट भीतरी भाव को प्रतिबिंबित करती है।

उपनिषद् यह भी कहता है कि साधना स्थल में अधिक गर्मी, अधिक ठंड, अधिक हवा या अधिक नमी नहीं होनी चाहिए। तापमान मध्यम होना चाहिए। प्रकाश भी न तो अधिक तेज हो न बिल्कुल अंधेरा। मध्यम प्रकाश सर्वोत्तम है। ऐसे वातावरण में शरीर सहज रहता है और मन को एकाग्र करने में सुविधा होती है। साधना के समय मोबाइल, टेलीविजन आदि सभी यंत्रों को बंद कर देना चाहिए। जितना अधिक बाहरी विघ्न होंगे, उतनी ही साधना में कठिनाई होगी।

11.2.3 प्राणायाम का क्रम और महत्ता

श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्राणायाम को योग साधना का आधार बताया गया है। प्राण का अर्थ है जीवन शक्ति और आयाम का अर्थ है विस्तार या नियंत्रण। प्राणायाम का अर्थ है प्राण की शक्ति को विस्तारित करना और उसे नियंत्रित करना। श्वास हमारे प्राण का बाहरी रूप है। जब हम श्वास को नियंत्रित करते हैं, तो हम प्राण को नियंत्रित कर रहे होते हैं। और जब प्राण नियंत्रित हो जाता है, तो मन भी स्वतः नियंत्रित हो जाता है।

उपनिषद् प्राणायाम का क्रम इस प्रकार बताता है। पहले साधक को सुखासन, पद्मासन या सिद्धासन में स्थिर होकर बैठना चाहिए। रीढ़ की हड्डी सीधी होनी चाहिए, सिर और गर्दन एक सीध में होनी चाहिए। हाथ घुटनों पर या गोद में होने चाहिए। आंखें धीरे से बंद कर लेनी चाहिए। कुछ क्षण शरीर को स्थिर करना चाहिए और श्वास को स्वाभाविक रूप से चलने देना चाहिए।

फिर धीरे-धीरे श्वास पर ध्यान देना शुरू करना चाहिए। पहले केवल श्वास को देखना चाहिए – श्वास भीतर आ रहा है, श्वास बाहर जा रहा है। कोई प्रयास नहीं करना, केवल साक्षी बने रहना। इस अभ्यास



से मन धीरे-धीरे श्वास के साथ एकाग्र होने लगता है। जब यह अभ्यास पूर्ण हो जाता है, तब विशेष प्राणायाम का अभ्यास शुरू करना चाहिए।

प्राणायाम के तीन मुख्य भाग होते हैं — पूरक, कुम्भक और रेचक। पूरक का अर्थ है श्वास को भीतर भरना। धीरे-धीरे, गहराई से श्वास को भीतर खींचना चाहिए। फेफड़े पूरी तरह भर जाने चाहिए। कुम्भक का अर्थ है श्वास को रोकना। जितना सहज हो, उतनी देर श्वास को भीतर रोकना चाहिए। और रेचक का अर्थ है श्वास को बाहर निकालना। धीरे-धीरे, पूरी तरह श्वास को बाहर निकाल देना चाहिए। यह एक चक्र है। इस चक्र को बार-बार दोहराना चाहिए।

प्राणायाम के अनेक लाभ हैं। शारीरिक स्तर पर यह फेफड़ों को शक्तिशाली बनाता है, रक्त को शुद्ध करता है, और समस्त शरीर को ऊर्जा प्रदान करता है। मानसिक स्तर पर यह मन को शांत करता है, एकाग्रता बढ़ाता है, और तनाव को कम करता है। आध्यात्मिक स्तर पर यह कुंडलिनी शक्ति को जागृत करता है, चक्रों को खोलता है, और साधक को समाधि की ओर ले जाता है। इसलिए प्राणायाम योग साधना का अनिवार्य अंग है।

बोध प्रश्न

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
 2. श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रतिपादक कौन थे?
 3. श्वेताश्वतरोपनिषद् में कितने अध्याय हैं?
 4. प्राणायाम के कितने मुख्य भाग होते हैं?
 5. ध्यान का अंतिम चरण क्या है?
 6. पूरक का क्या अर्थ है?
 7. कुम्भक का क्या अर्थ है?
 8. रेचक का क्या अर्थ है?
 9. धारणा का क्या अर्थ है?
 10. योगसिद्धि का पहला लक्षण क्या है?
-

सही या गलत बताइए

11. श्वेताश्वतरोपनिषद् केवल ज्ञान मार्ग की बात करता है।
 12. प्राणायाम योग साधना का आधार है।
 13. ध्यान के लिए शोरगुल वाला स्थान उत्तम है।
 14. प्राण और श्वास में कोई संबंध नहीं है।
 15. समाधि में साधक और ध्येय का भेद मिट जाता है।
-

11.3 योगसिद्धि

11.3.1 योगसिद्धि के पूर्व लक्षण



श्वेताश्वतरोपनिषद् योगसिद्धि के पूर्व लक्षणों का विस्तृत वर्णन करता है। ये लक्षण साधक को यह बताते हैं कि उसकी साधना सही दिशा में जा रही है और वह योगसिद्धि के निकट पहुंच रहा है। यह जानकारी अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि साधना के मार्ग पर चलते समय साधक को कई बार संदेह होता है कि वह सही दिशा में जा रहा है या नहीं। ये लक्षण उसे आश्वस्त करते हैं और साधना जारी रखने के लिए प्रेरित करते हैं।

पहला लक्षण है शरीर की हल्कापन की अनुभूति। जब साधना प्रगति कर रही होती है, तो साधक को अपना शरीर हल्का और सूक्ष्म प्रतीत होने लगता है। भारीपन, सुस्ती और आलस्य समाप्त हो जाते हैं। शरीर में एक नई ऊर्जा और स्फूर्ति का संचार होता है। साधक को ऐसा अनुभव होता है कि जैसे वह हवा में तैर रहा है या उसके शरीर में कोई वजन ही नहीं है। यह अनुभव प्राण शक्ति के जागरण का संकेत है।

दूसरा लक्षण है त्वचा की कांति में वृद्धि। योग साधना से साधक का चेहरा प्रकाशमान हो जाता है। त्वचा पर एक विशेष चमक आ जाती है जो साधारण सौंदर्य से भिन्न होती है। यह चमक भीतरी शुद्धि और आध्यात्मिक उन्नति का बाहरी प्रतिबिंब है। लोग साधक की ओर आकर्षित होते हैं और उसकी उपस्थिति में शांति का अनुभव करते हैं। यह दिव्य तेज कहलाता है जो सिद्ध योगियों में दिखाई देता है।

तीसरा लक्षण है आवाज में मधुरता। जब साधक की कंठ में स्थित विशुद्धि चक्र शुद्ध होता है, तो उसकी आवाज में विशेष मधुरता और गंभीरता आ जाती है। उसके शब्द प्रभावशाली हो जाते हैं और श्रोताओं के हृदय को स्पर्श करते हैं। साधक जो भी बोलता है, वह सत्य प्रतीत होता है और लोग उसके शब्दों को मानने लगते हैं। यह वाक् सिद्धि की प्रारंभिक अवस्था है।

चौथा लक्षण है शरीर से दिव्य सुगंध का आना। उपनिषद् कहता है कि जब साधक की साधना उच्च स्तर पर पहुंचती है, तो उसके शरीर से एक दिव्य सुगंध निकलने लगती है। यह सुगंध किसी बाहरी इत्र या सुगंधित तेल की नहीं होती बल्कि भीतरी शुद्धि से उत्पन्न होती है। यह सुगंध शांति और आनन्द का अनुभव कराती है। पंचमा लक्षण है मल-मूत्र की अल्पता। जैसे-जैसे साधक की शुद्धि बढ़ती है, उसके शरीर की अशुद्धियां कम होती जाती हैं। उसे भूख और प्यास भी कम लगने लगती है। शरीर से निकलने वाले मल और मूत्र की मात्रा भी घट जाती है। यह शरीर के सूक्ष्मीकरण का संकेत है। साधक का शरीर अधिक से अधिक प्राणमय होता जाता है और कम अन्नमय रहता है।

छठा महत्वपूर्ण लक्षण है नाड़ियों की शुद्धि। हमारे शरीर में हजारों सूक्ष्म नाड़ियां हैं जिनमें प्राण प्रवाहित होता है। सामान्य स्थिति में ये नाड़ियां अवरुद्ध और अशुद्ध होती हैं। लेकिन प्राणायाम और ध्यान से ये नाड़ियां शुद्ध होने लगती हैं। जब नाड़ियां शुद्ध होती हैं, तो साधक को शरीर में एक विशेष प्रकार की गर्माहट या ठंडक का अनुभव होता है। कभी-कभी शरीर में विद्युत जैसी अनुभूति होती है। ये सभी नाड़ी शुद्धि के संकेत हैं।

सातवां लक्षण है मन की स्थिरता। साधना के प्रारंभ में मन अत्यंत चंचल होता है। लेकिन जैसे-जैसे साधना प्रगति करती है, मन स्थिर होता जाता है। साधक को विचारों में कमी दिखाई देती है। मन की



बाहर भागने की प्रवृत्ति घटती है। ध्यान में बैठने पर मन शीघ्रता से शांत हो जाता है। यह मन की एकाग्रता और शुद्धि का संकेत है जो योगसिद्धि के लिए आवश्यक है।

11.3.2 योगसिद्धि का महत्व

योगसिद्धि का अर्थ है योग में पूर्णता की प्राप्ति। यह केवल कुछ अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति नहीं है बल्कि आत्मसाक्षात्कार की अवस्था है। श्वेताश्वतरोपनिषद् बताता है कि योगसिद्धि वह अवस्था है जिसमें साधक अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है। वह समझ जाता है कि वह शरीर, मन या बुद्धि नहीं है बल्कि शुद्ध चेतना है। यह ज्ञान केवल बौद्धिक नहीं होता बल्कि एक गहन अनुभव होता है जो जीवन को पूर्णतः परिवर्तित कर देता है।

योगसिद्धि का पहला महत्व है भय से मुक्ति। जब साधक को यह अनुभव हो जाता है कि उसका वास्तविक स्वरूप अमर आत्मा है, तो मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। और मृत्यु का भय सबसे बड़ा भय है। जब यह भय समाप्त हो जाता है, तो सभी छोटे-छोटे भय भी स्वतः समाप्त हो जाते हैं। योगसिद्धि साधक निर्भय हो जाता है। उसे किसी से कोई भय नहीं रहता क्योंकि वह जानता है कि उसे कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकता।

दूसरा महत्व है दुःख से मुक्ति। संसार में दुःख है क्योंकि हम अपने आप को सीमित मानते हैं। हम सोचते हैं कि हमारे पास यह नहीं है, वह नहीं है। यह कमी का भाव दुःख को जन्म देता है। लेकिन योगसिद्धि साधक को यह अनुभव होता है कि वह पूर्ण है। उसे किसी चीज की आवश्यकता नहीं है। यह अनुभव सभी दुःखों को समाप्त कर देता है। साधक परम शांति और परम आनन्द में स्थित हो जाता है।

तीसरा महत्व है इच्छाओं से मुक्ति। इच्छाएं मन को बाहर खींचती हैं और अशांत करती हैं। जब तक इच्छाएं हैं, तब तक मन शांत नहीं हो सकता। लेकिन योगसिद्धि में साधक की सभी इच्छाएं शांत हो जाती हैं। यह दमन से नहीं होता बल्कि पूर्णता के अनुभव से होता है। जब साधक को यह अनुभव होता है कि वह स्वयं पूर्ण है, तो फिर कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती। यह वास्तविक त्याग है जो बलपूर्वक नहीं बल्कि स्वाभाविक रूप से होता है।

चौथा महत्व है सिद्धियों की प्राप्ति। योगसिद्धि के साथ अनेक अलौकिक शक्तियां या सिद्धियां स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। लेकिन उपनिषद् चेतावनी देता है कि ये सिद्धियां साधना में बाधा बन सकती हैं। यदि साधक इन सिद्धियों में फंस जाता है, तो वह अपने मूल लक्ष्य से भटक सकता है। इसलिए सच्चा योगी इन सिद्धियों का उपयोग नहीं करता, वह केवल अपने लक्ष्य — आत्मसाक्षात्कार — पर ध्यान केंद्रित रखता है।

11.3.3 तत्त्वज्ञान की प्राप्ति

तत्त्वज्ञान का अर्थ है वास्तविकता का ज्ञान, सत्य का ज्ञान। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार योगसिद्धि का अंतिम फल तत्त्वज्ञान की प्राप्ति है। यह ज्ञान पुस्तकों से नहीं मिलता, यह गुरु के उपदेश से भी पूर्णतः नहीं मिलता। यह ज्ञान केवल प्रत्यक्ष अनुभव से आता है। जब साधक ध्यान की गहराइयों में उतरता है और समाधि को प्राप्त करता है, तब उसे यह ज्ञान होता है।



तत्त्वज्ञान तीन मुख्य सत्यों का ज्ञान है। पहला सत्य है आत्मा का स्वरूप। साधक को प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि उसका वास्तविक स्वरूप शुद्ध चेतना है जो सभी परिवर्तनों से परे है, जो अमर है और जो आनन्दस्वरूप है। यह केवल विचार नहीं रह जाता बल्कि एक जीवंत अनुभव बन जाता है। साधक अपने आप को शरीर या मन के साथ नहीं बल्कि इस शुद्ध चेतना के साथ पहचानता है।

दूसरा सत्य है ब्रह्म या परमात्मा का स्वरूप। साधक को यह अनुभव होता है कि एक सर्वव्यापी चेतना है जो संपूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त है। यह चेतना ही सभी का स्रोत है, सभी का आधार है। सूर्य, चंद्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, वायु – सब कुछ इसी चेतना की अभिव्यक्ति है। यह ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप है – सत्य है, चेतना है और आनन्द है।

तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण सत्य है आत्मा और ब्रह्म की एकता। साधक को यह अनुभव होता है कि जो आत्मा भीतर है और जो ब्रह्म बाहर है, वे दो नहीं हैं, एक ही हैं। तत् त्वम् असि – तुम वही हो। अहम् ब्रह्मास्मि – मैं ब्रह्म हूं। ये केवल वाक्य नहीं रह जाते बल्कि जीवंत अनुभव बन जाते हैं। साधक को अनुभव होता है कि वह और संपूर्ण ब्रह्मांड एक हैं। यह परम अद्वैत का अनुभव है।

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति जीवन को पूर्णतः बदल देती है। ज्ञानी व्यक्ति संसार में रहता है लेकिन संसार से प्रभावित नहीं होता। वह कर्म करता है लेकिन कर्म उसे बांधते नहीं। वह सुख-दुःख में समान रहता है। प्रशंसा और निंदा उसे विचलित नहीं करते। वह सदा शांत, सदा आनंदित रहता है। यह जीवनमुक्ति की अवस्था है जो योगसिद्धि का परम फल है।

बोध प्रश्न

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् का नाम कैसे पड़ा?
 2. ध्यान और धारणा में क्या अंतर है?
 3. पूरक, कुम्भक और रेचक क्या हैं?
 4. समाधि क्या है?
 5. योगसिद्धि का क्या अर्थ है?
 6. अंतर्दामी से क्या तात्पर्य है?
 7. निष्काम कर्म क्या है?
 8. जीवनमुक्ति क्या है?
-

11.4 परमेश्वर

11.4.1 परमेश्वर का स्वरूप

श्वेताश्वतरोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में परमेश्वर के स्वरूप का अत्यंत सुंदर और गहन वर्णन किया गया है। यहां परमेश्वर को केवल एक अमूर्त सिद्धांत के रूप में नहीं बल्कि एक जीवंत वास्तविकता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उपनिषद् कहता है कि परमेश्वर वह है जो संपूर्ण ब्रह्मांड का निर्माता, पालनकर्ता



और संहारकर्ता है। वह सृष्टि से पहले था, सृष्टि के समय है और सृष्टि के बाद भी रहेगा। वह कालातीत है, देशातीत है और वस्तुतीत है।

परमेश्वर का स्वरूप निराकार और साकार दोनों है। एक ओर वह निर्गुण है — गुणों से परे है, विशेषताओं से परे है। उसे शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता, विचारों से समझा नहीं जा सकता। वह अनिर्वचनीय है, अकथनीय है। दूसरी ओर वह सगुण भी है — वह सभी गुणों का स्रोत है, सभी विशेषताओं का आधार है। वह प्रेम है, शक्ति है, ज्ञान है, करुणा है। यह दोहरा स्वरूप विरोधाभासी प्रतीत हो सकता है लेकिन वास्तव में यह परमेश्वर की पूर्णता को दर्शाता है।

उपनिषद् परमेश्वर को अनेक उपमाओं से समझाता है। कहा गया है कि परमेश्वर एक महान कुम्हार की तरह है जो मिट्टी से घड़ा बनाता है। लेकिन यहां मिट्टी भी परमेश्वर ही है और घड़ा भी परमेश्वर ही है। परमेश्वर एक मकड़ी की तरह है जो अपने भीतर से ही जाला निकालती है और फिर उसी में रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने भीतर से ही सृष्टि को प्रकट करता है और फिर उसी में व्याप्त रहता है।

परमेश्वर को सूर्य की उपमा भी दी गई है। जैसे एक सूर्य अनेक स्थानों पर, अनेक जल में प्रतिबिंबित होता है, वैसे ही एक परमेश्वर अनेक जीवों में, अनेक रूपों में प्रकट होता है। लेकिन प्रतिबिंब अनेक होने पर भी सूर्य एक ही रहता है। वैसे ही रूप अनेक होने पर भी परमेश्वर एक ही है। यह अद्वैत और विविधता का सुंदर समन्वय है। परमेश्वर एक है लेकिन उसकी अभिव्यक्तियां अनेक हैं।

11.4.2 परमेश्वर की महिमा

श्वेताश्वतरोपनिषद् में परमेश्वर की महिमा का अत्यंत काव्यात्मक और भावपूर्ण वर्णन है। उपनिषद् कहता है कि परमेश्वर की महिमा अपार है, असीम है। उसे शब्दों में व्यक्त करना असंभव है लेकिन फिर भी भक्त अपनी क्षमता भर उसकी महिमा का गान करता है। परमेश्वर की महिमा उसकी सृजन शक्ति में दिखाई देती है। देखिए तो सही — यह विशाल ब्रह्मांड, अनगिनत तारे, सूर्य और चंद्रमा, पृथ्वी पर जीवन की विविधता — यह सब परमेश्वर की सृजन शक्ति का प्रमाण है।

परमेश्वर की महिमा उसकी नियंत्रण शक्ति में भी दिखाई देती है। संपूर्ण ब्रह्मांड एक अद्भुत व्यवस्था के साथ चल रहा है। सूर्य नियत समय पर उगता है और अस्त होता है। ऋतुएं नियमित रूप से आती हैं और जाती हैं। प्रकृति के सभी नियम पूर्ण सटीकता से काम कर रहे हैं। यह सब परमेश्वर की नियंत्रण शक्ति का प्रमाण है। वह महान नियंता है, महान संचालक है।

परमेश्वर की महिमा उसकी करुणा में भी दिखाई देती है। उपनिषद् कहता है कि परमेश्वर अपने सभी प्राणियों का पालन करता है। छोटे से कीड़े से लेकर विशाल हाथी तक — सभी को वह भोजन देता है, आश्रय देता है। माता अपने बच्चे को जैसे पालती है, उससे भी अधिक प्रेम से परमेश्वर अपनी सृष्टि का पालन करता है। यह करुणा अनंत है, असीम है।

परमेश्वर की महिमा उसकी सर्वज्ञता में भी दिखाई देती है। वह सब कुछ जानता है — जो हो चुका है, जो हो रहा है और जो होने वाला है। कोई भी रहस्य उससे छिपा नहीं है। हमारे मन के गुप्त विचार भी वह जानता है। हमारे हृदय की गहराइयों में जो भावनाएं हैं, वे भी उससे छिपी नहीं हैं। यह सर्वज्ञता उसे



परम न्यायकर्ता बनाती है। कोई भी कर्म, चाहे वह गुप्त में किया गया हो, उसकी दृष्टि से बच नहीं सकता।

11.4.3 ईश्वर की सर्वव्यापकता

श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर की सर्वव्यापकता का गहन विवेचन है। सर्वव्यापकता का अर्थ है कि ईश्वरसर्वत्र विद्यमान है। कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां वह न हो, कोई ऐसा समय नहीं है जब वह न हो। उपनिषद् कहता है कि ईश्वर सबसे बड़े से बड़े में है और सबसे छोटे से छोटे में भी है। वह पर्वत की चोटी पर है और समुद्र की गहराई में भी है। वह आकाश में है और पृथ्वी में भी है।

ईश्वर की सर्वव्यापकता को समझने के लिए उपनिषद् एक सुंदर उदाहरण देता है। कहा गया है कि जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है — घड़े में भी, कमरे में भी, बाहर भी — लेकिन घड़ा टूटने पर या कमरे की दीवारें गिरने पर आकाश प्रभावित नहीं होता, वैसे ही ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है लेकिन किसी वस्तु के बनने या नष्ट होने से वह प्रभावित नहीं होता। वह सदा एक सा रहता है।

ईश्वर की सर्वव्यापकता का एक गहरा अर्थ यह भी है कि ईश्वर सभी प्राणियों में समान रूप से विद्यमान है। चींटी में जितना ईश्वर है, उतना ही हाथी में भी है। फूल में जितना ईश्वर है, उतना ही वृक्ष में भी है। संत में जितना ईश्वर है, उतना ही पापी में भी है। यह समझ हमें सभी के प्रति समान भाव रखना सिखाती है। जब हम जानते हैं कि सभी में एक ही ईश्वर है, तो हम किसी से घृणा नहीं कर सकते, किसी को नीचा नहीं देख सकते।

ईश्वर की सर्वव्यापकता यह भी बताती है कि हमें ईश्वर को खोजने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। वह हमारे भीतर ही है, हमारे चारों ओर ही है। जब हम किसी फूल की सुंदरता देखते हैं, तो हम ईश्वर को देख रहे होते हैं। जब हम किसी की करुणा अनुभव करते हैं, तो हम ईश्वर को अनुभव कर रहे होते हैं। जब हम सत्य बोलते हैं, तो हम ईश्वर को अभिव्यक्त कर रहे होते हैं। यह साक्षात्कार जीवन को पवित्र बना देता है।

बोध प्रश्न

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् में कितने अध्याय हैं?
3. प्राणायाम का क्या अर्थ है?
4. परमेश्वर का मुख्य गुण क्या है?
5. मोक्ष का क्या अर्थ है?

11.5 साधना और मोक्ष

11.5.1 ईश्वरप्राप्ति के साधन

श्वेताश्वतरोपनिषद् ईश्वरप्राप्ति के अनेक साधन बताता है। पहला और सबसे महत्वपूर्ण साधन है भक्ति। भक्ति का अर्थ है ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण और प्रेम। उपनिषद् कहता है कि जो व्यक्ति ईश्वर से प्रेम



करता है, उसके लिए ईश्वर प्राप्ति सहज हो जाती है। भक्ति में कोई जटिल नियम नहीं हैं, कोई कठिन साधना नहीं है। केवल हृदय से ईश्वर को याद करना, उससे बात करना, उसे अपना सब कुछ समझना यही भक्ति है। जब भक्ति पूर्ण हो जाती है, तो ईश्वर स्वयं भक्त के पास आता है।

दूसरा साधन है ज्ञान। ज्ञान का अर्थ है ईश्वर के स्वरूप को समझना, सृष्टि के रहस्य को जानना, आत्मा और ब्रह्म के संबंध को समझना। यह ज्ञान शास्त्रों के अध्ययन से, गुरु के उपदेश से और स्वयं के चिंतन से प्राप्त होता है। जब साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि ईश्वर ही सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है, तो वह ईश्वर से अलग नहीं रह जाता। ज्ञान उसे ईश्वर के साथ एक कर देता है।

तीसरा साधन है योग। योग का अर्थ है मन को एकाग्र करना और आत्मा में स्थिर होना। प्राणायाम, आसन, ध्यान, समाधि — ये सब योग के अंग हैं। जब साधक योग साधना करता है, तो उसका मन शुद्ध होता है, उसकी नाड़ियां शुद्ध होती हैं, उसकी चेतना उ

त्र की मात्रा में कमी। जब शरीर भीतर से शुद्ध होता है, तो विषैले पदार्थ कम होते जाते हैं और स्वाभाविक रूप से मल-मूत्र की मात्रा घट जाती है। साधक को भूख और प्यास भी कम लगती है क्योंकि उसका शरीर प्राण ऊर्जा से पोषित होने लगता है।

छठा लक्षण है शरीर में विशेष रूप से हृदय और नाभि क्षेत्र में गर्मी का अनुभव। जब कुंडलिनी शक्ति जागृत होने लगती है, तो साधक को अपने शरीर के विभिन्न भागों में विशेषतः मेरुदंड में गर्मी या ऊष्णता का अनुभव होता है। यह साधारण गर्मी नहीं होती बल्कि एक सुखद और ऊर्जावान अनुभूति होती है। यह संकेत है कि प्राणिक ऊर्जा चक्रों में गति कर रही है।

सातवां लक्षण है नींद की आवश्यकता में कमी। उच्च साधना करने वाले योगियों को कम नींद की आवश्यकता होती है। कुछ घंटे की नींद ही उन्हें पर्याप्त लगती है और वे पूरे दिन ऊर्जावान रहते हैं। यह इसलिए होता है क्योंकि उनका शरीर ध्यान और योग से इतनी गहरी विश्राम की अवस्था प्राप्त करता है कि शारीरिक नींद की आवश्यकता कम हो जाती है। अष्टम लक्षण है मन में असाधारण शांति और स्थिरता। साधक का मन विचारों के तूफान से मुक्त हो जाता है और एक गहन शांति में स्थित हो जाता है।

11.5.2 मोक्ष की प्राप्ति

मोक्ष श्वेताश्वतरोपनिषद् का अंतिम लक्ष्य है। मोक्ष का अर्थ है मुक्ति — सभी बंधनों से, सभी दुःखों से, जन्म-मृत्यु के चक्र से। उपनिषद् कहता है कि मोक्ष मृत्यु के बाद मिलने वाली कोई चीज नहीं है। मोक्ष यहीं और अभी प्राप्त किया जा सकता है। जब साधक अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, जब वह समझ जाता है कि वह ब्रह्म है, तो वह उसी क्षण मुक्त हो जाता है।

मोक्ष का पहला स्तर है भय से मुक्ति। जब साधक को यह अनुभव होता है कि उसका वास्तविक स्वरूप आत्मा है जो अमर है, तो मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। और मृत्यु का भय सभी भयों की जड़ है। जब यह भय समाप्त हो जाता है, तो सभी अन्य भय भी समाप्त हो जाते हैं। साधक निर्भय हो जाता है।



वह जानता है कि कुछ भी उसे नुकसान नहीं पहुंचा सकता क्योंकि उसका वास्तविक स्वरूप अविनाशी है।

दूसरा स्तर है दुःख से मुक्ति। जब साधक को यह समझ आ जाता है कि सभी दुःख अज्ञान से उत्पन्न होते हैं, कि दुःख उसके वास्तविक स्वरूप का हिस्सा नहीं है, तो वह दुःख से मुक्त हो जाता है। यह नहीं कि उसके जीवन में कठिनाइयां नहीं आतीं। कठिनाइयां आती हैं लेकिन वे उसे प्रभावित नहीं करतीं। वह जानता है कि ये सब परिवर्तनशील हैं, ये आएंगे और चले जाएंगे। लेकिन उसका वास्तविक स्वरूप सदा आनन्द में स्थित है।

तीसरा स्तर है इच्छाओं से मुक्ति। जब साधक को यह अनुभव होता है कि वह पूर्ण है, कि उसे किसी चीज की आवश्यकता नहीं है, तो सभी इच्छाएं स्वतः समाप्त हो जाती हैं। यह नहीं कि वह कुछ करता नहीं। वह सभी कर्म करता है लेकिन बिना किसी आसक्ति के। वह जानता है कि वह पहले से ही पूर्ण है, उसे कुछ भी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। यह परम स्वतंत्रता है, यह परम मुक्ति है।

चौथा और अंतिम स्तर है जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति। जब साधक की सभी इच्छाएं समाप्त हो जाती हैं, जब उसके सभी कर्म निष्काम हो जाते हैं, तो वह नए कर्म बंधन नहीं बनाता। और पुराने कर्म भी धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं। जब सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं, तो पुनर्जन्म की आवश्यकता नहीं रहती। साधक इस जीवन के बाद किसी नए शरीर में जन्म नहीं लेता। वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है। यह कैवल्य है, यह निर्वाण है, यह परम मोक्ष है।

11.5.3 भक्ति और ज्ञान का समन्वय

श्वेताश्वतरोपनिषद् की सबसे बड़ी विशेषता है भक्ति और ज्ञान का सुंदर समन्वय। कई बार भक्ति और ज्ञान को दो विरोधी मार्ग माना जाता है। कहा जाता है कि भक्ति मार्ग हृदय का मार्ग है और ज्ञान मार्ग बुद्धि का मार्ग है। लेकिन श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। उपनिषद् कहता है कि भक्ति के बिना ज्ञान शुष्क हो सकता है। केवल बौद्धिक समझ हृदय को नहीं छूती। एक व्यक्ति सभी दार्शनिक सिद्धांतों को जान सकता है लेकिन यदि उसके हृदय में प्रेम नहीं है, तो वह ज्ञान निर्जीव है। दूसरी ओर, ज्ञान के बिना भक्ति अंधी हो सकती है। केवल भावुकता पर्याप्त नहीं है। भक्त को यह समझना भी आवश्यक है कि वह किसकी भक्ति कर रहा है, क्यों कर रहा है।

इसलिए उपनिषद् कहता है कि सच्ची भक्ति ज्ञान से युक्त होनी चाहिए और सच्चा ज्ञान भक्ति से युक्त होना चाहिए। जब ज्ञानी में भक्ति आ जाती है, तो उसका ज्ञान जीवंत हो जाता है। वह केवल सिद्धांत नहीं रह जाता बल्कि एक जीवंत अनुभव बन जाता है। और जब भक्त में ज्ञान आ जाता है, तो उसकी भक्ति गहरी हो जाती है। वह समझता है कि वह जिसकी भक्ति कर रहा है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है। भक्त और भगवान का भेद मिटने लगता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में महर्षि श्वेताश्वतर स्वयं इस समन्वय के उदाहरण हैं। वे एक महान योगी थे, ज्ञानी थे। उन्होंने गहन साधना की, ध्यान किया, और तत्व का साक्षात्कार किया। लेकिन साथ ही वे एक महान भक्त भी थे। उनके हृदय में परमेश्वर के प्रति गहरा प्रेम और श्रद्धा थी। यह समन्वय उनकी शिक्षाओं में



स्पष्ट दिखाई देता है। कहीं वे योग की विधि बताते हैं, कहीं परमेश्वर की महिमा का गान करते हैं। यह दोनों एक साथ चलते हैं, एक-दूसरे को पूर्ण करते हैं।

अंत में, श्वेताश्वतरोपनिषद् का संदेश यह है कि चाहे आप किसी भी मार्ग पर चलें — योग, भक्ति, ज्ञान या कर्म — महत्वपूर्ण यह है कि आप पूरी श्रद्धा और समर्पण के साथ चलें। सभी मार्ग एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। परमेश्वर की प्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार, मोक्ष — यह सबके लिए संभव है। केवल ईमानदारी, निरंतरता और गुरु की कृपा की आवश्यकता है।

11.6 बोध प्रश्न

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित ध्यानयोग की विधि का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. योगसिद्धि के पूर्व लक्षणों का वर्णन करते हुए इनके महत्व को स्पष्ट कीजिए।
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित परमेश्वर के स्वरूप और महिमा का विस्तृत विवेचन कीजिए।
4. ईश्वरप्राप्ति के विभिन्न साधनों का वर्णन करते हुए इनके बीच के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
5. मोक्ष की अवधारणा को समझाते हुए इसकी प्राप्ति के मार्ग का वर्णन कीजिए।
6. प्राणायाम के क्रम और महत्ता को स्पष्ट कीजिए।
7. ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान की क्या विशेषताएं होनी चाहिए?
8. योगसिद्धि के आठ लक्षण कौन से हैं?
9. परमेश्वर की सर्वव्यापकता का क्या अर्थ है?
10. भक्ति और ज्ञान के समन्वय को स्पष्ट कीजिए।
11. तत्त्वज्ञान की प्राप्ति क्या है?
12. अष्ट सिद्धियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।



इकाई 12

योगराजोपनिषद्

इकाई संरचना

12.1 प्रस्तावना

- 12.1.1 योगराजोपनिषद् का परिचय
- 12.1.2 उपनिषद् का महत्व एवं विशेषताएं

12.2 योग के चार प्रकार

- 12.2.1 मन्त्रयोग – स्वरूप और साधना
- 12.2.2 लययोग – विधि और महत्व
- 12.2.3 हठयोग – सिद्धांत और अभ्यास
- 12.2.4 राजयोग – अष्टांग योग का मार्ग

12.3 नौ चक्र

- 12.3.1 चक्रों का परिचय और स्थान
- 12.3.2 प्रमुख चक्रों का विवरण
- 12.3.3 चक्रों का महत्व

12.4 चक्र ध्यान की प्रक्रियाएं

- 12.4.1 चक्र ध्यान की विधि
- 12.4.2 कुंडलिनी जागरण
- 12.4.3 ध्यान में सावधानियां

12.5 योग साधना के परिणाम

- 12.5.1 शारीरिक परिणाम
- 12.5.2 मानसिक और आध्यात्मिक परिणाम
- 12.5.3 योग की पूर्णता

12.6 बोध प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

योगराजोपनिषद् भारतीय योग परंपरा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और व्यावहारिक ग्रंथ है। यह उपनिषद् योग विद्या के विभिन्न पहलुओं को व्यवस्थित और विस्तृत रूप से प्रस्तुत करता है। इसका नाम योगराज



अर्थात् योगों का राजा इसलिए पड़ा क्योंकि यह सभी प्रकार के योगों का समग्र विवेचन करता है। यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से संबंधित माना जाता है और योग उपनिषदों की श्रेणी में आता है।

12.1.1 योगराजोपनिषद् का परिचय

योगराजोपनिषद् का मुख्य उद्देश्य साधकों को योग की विभिन्न पद्धतियों से परिचित कराना और उन्हें व्यावहारिक मार्गदर्शन देना है। इस उपनिषद् में योग को केवल एक सैद्धांतिक विषय के रूप में नहीं बल्कि एक जीवंत साधना पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह बताता है कि विभिन्न प्रकृति और स्वभाव वाले साधकों के लिए योग के कौन से मार्ग उपयुक्त हैं और उन्हें कैसे साधना चाहिए।

इस उपनिषद् की विशेषता यह है कि यह योग के चार प्रमुख प्रकारों मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग का विस्तृत वर्णन करता है। प्रत्येक योग मार्ग की अपनी विशेषताएं हैं और विभिन्न साधकों के लिए विभिन्न मार्ग उपयुक्त होते हैं। कुछ साधक मंत्रों के माध्यम से सिद्धि प्राप्त करते हैं, कुछ लय और समाधि के माध्यम से, कुछ शारीरिक साधनाओं के माध्यम से, और कुछ मन के नियंत्रण के माध्यम से। योगराजोपनिषद् इन सभी मार्गों का समान रूप से सम्मान करता है और बताता है कि सभी मार्ग अंततः एक ही लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार की ओर ले जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, योगराजोपनिषद् चक्रों और नाड़ियों का विस्तृत वर्णन करता है। यह बताता है कि मानव शरीर में नौ प्रमुख चक्र हैं और अनेक नाड़ियां हैं जिनमें प्राण ऊर्जा प्रवाहित होती है। इन चक्रों को जागृत करने और प्राण ऊर्जा को नियंत्रित करने से साधक विशेष शक्तियां प्राप्त करता है और अंततः परम लक्ष्य को प्राप्त करता है। यह उपनिषद् चक्रों के ध्यान की विस्तृत विधि भी बताता है जो साधकों के लिए अत्यंत उपयोगी है।

12.1.2 उपनिषद् का महत्व एवं विशेषताएं

योगराजोपनिषद् का महत्व अनेक कारणों से है। सर्वप्रथम, यह उपनिषद् योग विद्या का एक संपूर्ण विश्वकोश है। जहां अन्य योग ग्रंथ किसी एक पहलू पर केंद्रित होते हैं, वहीं योगराजोपनिषद् योग के सभी पहलुओं को समेटता है। यह आसन से लेकर समाधि तक, प्राणायाम से लेकर ध्यान तक, शारीरिक शुद्धि से लेकर मानसिक एकाग्रता तक – सभी विषयों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करता है।

दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है इसका व्यावहारिक दृष्टिकोण। यह उपनिषद् केवल सिद्धांत नहीं बताता बल्कि यह भी बताता है कि साधना कैसे करनी चाहिए। यह साधकों को चरण-दर-चरण मार्गदर्शन देता है। यह बताता है कि किस आसन में बैठना चाहिए, कैसे श्वास लेना चाहिए, किस स्थान पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए, और कौन से मंत्रों का जप करना चाहिए। यह व्यावहारिकता इस उपनिषद् को साधकों के लिए अत्यंत उपयोगी बनाती है।

तीसरी विशेषता है इसका समावेशी दृष्टिकोण। योगराजोपनिषद् किसी एक मार्ग को श्रेष्ठ नहीं बताता बल्कि सभी मार्गों को समान महत्व देता है। यह समझता है कि विभिन्न साधकों की प्रकृति और क्षमता भिन्न होती है। किसी के लिए मन्त्रयोग उपयुक्त हो सकता है तो किसी के लिए हठयोग। यह उपनिषद् प्रत्येक साधक को अपनी प्रकृति के अनुसार मार्ग चुनने की स्वतंत्रता देता है।



चौथी विशेषता है इसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण। योगराजोपनिषद् मानव शरीर की सूक्ष्म रचना का विस्तृत वर्णन करता है। यह चक्रों, नाड़ियों और प्राण वायु के बारे में बताता है। यह समझाता है कि कैसे प्राण ऊर्जा शरीर में प्रवाहित होती है और कैसे इसे नियंत्रित किया जा सकता है। यह ज्ञान आधुनिक विज्ञान के लिए भी रुचिकर है क्योंकि यह ऊर्जा चिकित्सा और मनोदैहिक संबंधों को समझने में सहायक है।

पांचवीं विशेषता है इसका संतुलित दृष्टिकोण। योगराजोपनिषद् न तो अत्यधिक तपस्या का समर्थन करता है न अत्यधिक भोग का। यह मध्यम मार्ग का समर्थन करता है। यह कहता है कि योगी को न तो बहुत खाना चाहिए न बहुत भूखे रहना चाहिए, न बहुत सोना चाहिए न बिल्कुल जागते रहना चाहिए। यह संतुलन ही योग की सफलता की कुंजी है। यह दृष्टिकोण साधारण गृहस्थों के लिए भी योग को सुलभ बनाता है।

12.2 योग के चार प्रकार

12.2.1 मन्त्रयोग स्वरूप और साधना

मन्त्रयोग योगराजोपनिषद् में वर्णित पहला योग मार्ग है। मन्त्रयोग का अर्थ है मंत्रों के माध्यम से योग सिद्धि प्राप्त करना। मंत्र विशेष ध्वनि या शब्द समूह होते हैं जिनमें विशेष शक्ति निहित होती है। जब इन मंत्रों का बार-बार जप किया जाता है, तो वे साधक के मन और चेतना पर गहरा प्रभाव डालते हैं। मन्त्रयोग उन साधकों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है जो श्रद्धालु हैं, जिनमें भक्ति भाव है, और जो ध्वनि की शक्ति में विश्वास करते हैं।

मन्त्रयोग का आधार यह सिद्धांत है कि संपूर्ण ब्रह्मांड ध्वनि से बना है। वैदिक परंपरा में कहा गया है कि आरंभ में शब्द था और शब्द से ही सृष्टि हुई। प्रत्येक ध्वनि एक विशेष कंपन पैदा करती है और ये कंपन हमारे शरीर, मन और चेतना को प्रभावित करते हैं। मंत्र विशेष रूप से रचित ध्वनियां हैं जो विशेष प्रभाव उत्पन्न करती हैं। जब हम किसी मंत्र का जप करते हैं, तो उसकी ध्वनि तरंगें हमारे संपूर्ण अस्तित्व को प्रभावित करती हैं।

मन्त्रयोग की साधना में पहला कदम है गुरु से मंत्र दीक्षा लेना। गुरु साधक की प्रकृति को देखकर उपयुक्त मंत्र देते हैं। विभिन्न मंत्र विभिन्न उद्देश्यों के लिए होते हैं। कुछ मंत्र शांति के लिए हैं, कुछ ऊर्जा के लिए, कुछ ज्ञान के लिए। सबसे शक्तिशाली मंत्र है ओम जो ब्रह्म का ही ध्वनि रूप है। लेकिन अन्य अनेक मंत्र भी हैं जैसे गायत्री मंत्र, महामृत्युंजय मंत्र, और विभिन्न देवी-देवताओं के बीज मंत्र।

मंत्र जप की विधि सरल है लेकिन इसमें नियमितता और श्रद्धा आवश्यक है। साधक को प्रतिदिन एक निश्चित समय पर, एक निश्चित स्थान पर, और एक निश्चित आसन में बैठकर मंत्र जप करना चाहिए। जप के समय मन को पूरी तरह मंत्र में लगाना चाहिए। प्रत्येक शब्द को ध्यान से उच्चारित करना चाहिए। जप तीन प्रकार से किया जा सकता है – वाचिक (जोर से), उपांशु (धीमी आवाज में), और मानसिक (मन में)। मानसिक जप सबसे शक्तिशाली माना जाता है।



जप के साथ माला का प्रयोग किया जाता है। माला में प्रायः एक सौ आठ मनके होते हैं। एक माला पूरी करने का अर्थ है मंत्र को एक सौ आठ बार दोहराना। नियमित साधक प्रतिदिन एक या अधिक माला जप करते हैं। कुछ विशेष मंत्रों की सिद्धि के लिए लाखों बार जप करना पड़ता है। जब मंत्र की पूर्णाहुति होती है अर्थात् निर्धारित संख्या में जप पूरा हो जाता है, तो साधक को विशेष अनुभव होते हैं और मंत्र सिद्ध हो जाता है। मंत्र सिद्धि के बाद मंत्र में विशेष शक्ति आ जाती है और साधक जो भी कामना मंत्र के माध्यम से करता है, वह पूर्ण होती है।

12.2.2 लययोग विधि और महत्व

लययोग योग की दूसरी महत्वपूर्ण पद्धति है जो योगराजोपनिषद् में वर्णित है। लय का अर्थ है विलय या लीन होना। लययोग में साधक अपने मन और चेतना को एक बिंदु में लीन कर देता है। यह योग समाधि की अवस्था प्राप्त करने का सीधा मार्ग है। लययोग उन साधकों के लिए उपयुक्त है जो गहन ध्यान में रुचि रखते हैं, जिनकी एकाग्रता शक्ति अच्छी है, और जो मन को स्थिर करने में सक्षम हैं।

लययोग का मूल सिद्धांत यह है कि जब मन पूर्णतः एकाग्र हो जाता है, जब सभी विचार शांत हो जाते हैं, तो चेतना अपने वास्तविक स्वरूप में प्रवेश करती है। साधारण अवस्था में हमारा मन निरंतर चंचल रहता है। विचारों का एक अंतहीन प्रवाह चलता रहता है। यह विचार हमें हमारे वास्तविक स्वरूप से दूर रखते हैं। लययोग में साधक इन सभी विचारों को शांत कर देता है और शुद्ध चेतना की अवस्था में पहुंच जाता है।

लययोग की साधना में पहला कदम है किसी एक बिंदु पर ध्यान केंद्रित करना। यह बिंदु बाहरी हो सकता है या भीतरी। बाहरी बिंदु हो सकता है मोमबत्ती की लौ, किसी देवता की मूर्ति, या कोई यंत्र। भीतरी बिंदु हो सकता है हृदय का केंद्र, भ्रूमध्य, या नासाग्र। साधक को अपनी सभी इंद्रियों और मन को इस एक बिंदु पर केंद्रित करना होता है। प्रारंभ में यह कठिन लगता है क्योंकि मन बार-बार भटकता है। लेकिन नियमित अभ्यास से धीरे-धीरे मन स्थिर होने लगता है।

जब साधक की एकाग्रता गहरी होती है, तो वह धारणा की अवस्था में प्रवेश करता है। धारणा में मन का ध्यान तो भटकता है लेकिन बार-बार उसी बिंदु पर वापस आ जाता है। जब धारणा और गहरी हो जाती है, तो वह ध्यान में परिवर्तित हो जाती है। ध्यान में मन का प्रवाह निरंतर एक दिशा में होता है। कोई भटकाव नहीं होता। और जब ध्यान अपनी चरम सीमा पर पहुंचता है, तो वह समाधि बन जाता है।

समाधि लययोग का अंतिम लक्ष्य है। समाधि में साधक अपने ध्येय में पूर्णतः लीन हो जाता है। साधक और ध्येय का भेद मिट जाता है। यदि साधक ने ब्रह्म को ध्येय बनाया था, तो वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। यदि आत्मा को ध्येय बनाया था, तो आत्मा का साक्षात्कार होता है। समाधि की अवस्था में अद्भुत आनन्द और शांति का अनुभव होता है। यह अनुभव शब्दों से परे है। इसे केवल अनुभव किया जा सकता है, वर्णित नहीं किया जा सकता।

12.2.3 हठयोग सिद्धांत और अभ्यास



हठयोग योग की तीसरी महत्वपूर्ण पद्धति है। हठयोग का अर्थ है बल या प्रयास के साथ किया गया योग। यह शारीरिक साधना पर आधारित योग पद्धति है। हठयोग में आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बंध और षट्कर्म जैसी शारीरिक क्रियाओं के माध्यम से शरीर को शुद्ध और शक्तिशाली बनाया जाता है। हठयोग का मूल सिद्धांत यह है कि शरीर और मन परस्पर जुड़े हुए हैं। जब शरीर शुद्ध और स्वस्थ होता है, तो मन भी शुद्ध और स्थिर हो जाता है।

हठ शब्द दो अक्षरों से बना है – ह और ठ। ह का अर्थ है सूर्य या पिंगला नाड़ी और ठ का अर्थ है चंद्र या इडा नाड़ी। हठयोग का उद्देश्य है इन दोनों नाड़ियों को संतुलित करना और प्राण को सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कराना। जब प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करता है, तो कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है और साधक उच्च चेतना की अवस्था में पहुंचता है।

हठयोग की साधना का प्रारंभ षट्कर्म से होता है। षट्कर्म छह प्रकार की शुद्धि क्रियाएं हैं – नेति, धौति, बस्ति, कपालभाति, त्राटक और नौलि। ये क्रियाएं शरीर को भीतर से शुद्ध करती हैं। नेति से नासिका मार्ग शुद्ध होता है, धौति से पेट और आंतें शुद्ध होती हैं, बस्ति से बड़ी आंत शुद्ध होती है, कपालभाति से फेफड़े और मस्तिष्क शुद्ध होते हैं, त्राटक से आंखें और मन शुद्ध होते हैं, और नौलि से पेट के सभी अंग शुद्ध होते हैं।

षट्कर्म के बाद साधक को आसनों का अभ्यास करना चाहिए। आसन शरीर को लचीला, मजबूत और स्वस्थ बनाते हैं। योगराजोपनिषद् में अनेक आसनों का वर्णन है जैसे पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन आदि। प्रत्येक आसन के अपने विशेष लाभ हैं। कुछ आसन ध्यान के लिए उपयुक्त हैं, कुछ शारीरिक स्वास्थ्य के लिए। साधक को अपनी आवश्यकता और क्षमता के अनुसार आसनों का चयन करना चाहिए।

आसनों के बाद प्राणायाम का अभ्यास आता है। प्राणायाम श्वास के नियंत्रण की कला है। विभिन्न प्रकार के प्राणायाम हैं जैसे नाड़ी शोधन, भस्त्रिका, उज्जायी, शीतली, सीत्कारी आदि। प्रत्येक प्राणायाम का विशेष प्रभाव होता है। प्राणायाम से प्राण शक्ति बढ़ती है, नाड़ियां शुद्ध होती हैं, और मन एकाग्र होता है। फिर मुद्राओं और बंधों का अभ्यास आता है। मुद्राएं विशेष शारीरिक स्थितियां हैं जो प्राण को नियंत्रित करती हैं। बंध विशेष संकुचन हैं जो प्राण को रोकते हैं और उसे ऊपर की ओर ले जाते हैं।

बोध प्रश्न

1. योगराजोपनिषद् किस वेद से संबंधित है?
2. योगराजोपनिषद् में कितने प्रकार के योग बताए गए हैं?
3. मन्त्रयोग में किसका जप किया जाता है?
4. लययोग का अर्थ क्या है?
5. हठयोग में कितने षट्कर्म होते हैं?
6. मानव शरीर में कितने मुख्य चक्र होते हैं?



7. मूलाधार चक्र कहाँ स्थित है?
8. कुंडलिनी शक्ति किस चक्र में होती है?
9. सहस्रार चक्र कहाँ स्थित है?
10. सुषुम्ना नाड़ी कहाँ स्थित है?

सही या गलत बताइए

11. योगराजोपनिषद् केवल राजयोग की बात करता है।
12. मंत्र जप तीन प्रकार से किया जा सकता है।
13. लययोग में शारीरिक क्रियाएं प्रमुख हैं।
14. हठयोग में षट्कर्म शुद्धि क्रियाएं हैं।
15. मानव शरीर में सात चक्र होते हैं।

12.2.4 राजयोग अष्टांग योग का मार्ग

राजयोग योग की चौथी और सबसे उच्च पद्धति मानी जाती है। राज का अर्थ है राजा और राजयोग का अर्थ है योगों का राजा। इसे पतंजलि योग या अष्टांग योग भी कहा जाता है क्योंकि महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में इसका विस्तृत वर्णन किया है। राजयोग मन के नियंत्रण पर आधारित है। इसका मूल सिद्धांत है कि जब मन पूर्णतः नियंत्रित हो जाता है, तो साधक को आत्मसाक्षात्कार होता है।

राजयोग में आठ अंग हैं जिन्हें अष्टांग कहा जाता है। ये आठ अंग हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये आठ चरण एक क्रमिक विकास के प्रतीक हैं। साधक को पहले यम और नियम का पालन करना होता है, फिर आसन और प्राणायाम का अभ्यास, फिर प्रत्याहार, धारणा और ध्यान, और अंत में समाधि की प्राप्ति होती है।

यम और नियम नैतिक अनुशासन हैं। यम पांच हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये वे गुण हैं जो साधक को दूसरों के प्रति रखने चाहिए। अहिंसा का अर्थ है किसी को भी मन, वचन या कर्म से हानि न पहुंचाना। सत्य का अर्थ है हमेशा सच बोलना। अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। ब्रह्मचर्य का अर्थ है इंद्रियों का संयम। और अपरिग्रह का अर्थ है आवश्यकता से अधिक संचय न करना।

नियम भी पांच हैं – शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। ये वे गुण हैं जो साधक को अपने प्रति रखने चाहिए। शौच का अर्थ है शुद्धि – बाहरी और भीतरी दोनों। संतोष का अर्थ है जो मिला है उसमें संतुष्ट रहना। तप का अर्थ है कठिनाइयों को सहना और साधना में दृढ़ रहना। स्वाध्याय का अर्थ है आत्म-अध्ययन और शास्त्रों का अध्ययन। और ईश्वरप्रणिधान का अर्थ है ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण।

आसन और प्राणायाम के बारे में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। इनके बाद आता है प्रत्याहार। प्रत्याहार का अर्थ है इंद्रियों को बाहरी विषयों से हटाकर भीतर की ओर मोड़ना। साधारणतः हमारी इंद्रियां बाहर की ओर भागती रहती हैं – आंखें रूप देखना चाहती हैं, कान शब्द सुनना चाहते हैं, जीभ स्वाद चखना



चाहती है। प्रत्याहार में साधक इन इंद्रियों को नियंत्रित करता है और उन्हें बाहरी विषयों से विमुख कर देता है। यह ध्यान की तैयारी है।

प्रत्याहार के बाद धारणा आती है जिसका अर्थ है मन को एक बिंदु पर केंद्रित करना। फिर ध्यान आता है जिसमें मन का प्रवाह निरंतर एक दिशा में होता है। और अंत में समाधि आती है जिसमें साधक और ध्येय का भेद मिट जाता है। राजयोग का यह अष्टांग मार्ग एक पूर्ण और संतुलित मार्ग है जो साधक को शरीर से लेकर आत्मा तक, बाहर से लेकर भीतर तक, नैतिकता से लेकर आध्यात्मिकता तक ले जाता है।

12.3 नौ चक्र

12.3.1 चक्रों का परिचय और स्थान

योगराजोपनिषद् में नौ प्रमुख चक्रों का वर्णन है। चक्र का अर्थ है पहिया या चक्र। मानव शरीर में जहां प्राण ऊर्जा केंद्रित होती है, वे स्थान चक्र कहलाते हैं। ये चक्र सूक्ष्म शरीर में होते हैं, इसलिए भौतिक आंखों से दिखाई नहीं देते। लेकिन योगी इन्हें अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देख सकते हैं। प्रत्येक चक्र एक विशेष प्रकार की ऊर्जा का केंद्र है और प्रत्येक का अपना रंग, आकार और कार्य है।

नौ चक्र हैं – मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, मनस, सोम और सहस्रार। इनमें से पहले सात चक्र अधिक प्रसिद्ध हैं और अनेक योग ग्रंथों में इनका वर्णन मिलता है। मनस और सोम चक्र कुछ विशेष परंपराओं में ही वर्णित हैं। ये नौ चक्र मेरुदंड के साथ स्थित हैं। सबसे नीचे मूलाधार है और सबसे ऊपर सहस्रार। इन चक्रों के बीच तीन प्रमुख नाड़ियां हैं – इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना।

सुषुम्ना नाड़ी मेरुदंड के बीच से गुजरती है। यह सबसे महत्वपूर्ण नाड़ी है। जब प्राण इस नाड़ी में प्रवाहित होता है, तो चक्र जागृत होते हैं और कुंडलिनी ऊपर उठती है। इड़ा नाड़ी सुषुम्ना के बाएं ओर है। यह चंद्र नाड़ी है और इसका संबंध शीतलता, स्त्रीय ऊर्जा और मन से है। पिंगला नाड़ी सुषुम्ना के दाएं ओर है। यह सूर्य नाड़ी है और इसका संबंध ऊष्णता, पौरुष ऊर्जा और शरीर से है।

साधारण व्यक्ति में प्राण मुख्यतः इड़ा और पिंगला में प्रवाहित होता है। सुषुम्ना बंद रहती है। योग साधना का उद्देश्य है सुषुम्ना को खोलना और प्राण को इसमें प्रवाहित करना। जब ऐसा होता है, तो एक अद्भुत अनुभव होता है। साधक को एक विशेष प्रकार की शांति और आनन्द का अनुभव होता है। मन के सभी द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं। एक संतुलन और समता की अवस्था आती है।

प्रत्येक चक्र एक विशेष तत्व से संबंधित है। मूलाधार पृथ्वी तत्व से, स्वाधिष्ठान जल तत्व से, मणिपुर अग्नि तत्व से, अनाहत वायु तत्व से, और विशुद्धि आकाश तत्व से संबंधित है। जब साधक इन चक्रों को जागृत करता है, तो वह इन तत्वों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। यह नियंत्रण केवल बाहरी तत्वों पर नहीं बल्कि अपने भीतर के तत्वों पर भी होता है। इससे साधक शारीरिक और मानसिक दोनों स्तरों पर शक्तिशाली हो जाता है।

12.3.2 प्रमुख चक्रों का विवरण



मूलाधार चक्र मेरुदंड के सबसे निचले भाग में, गुदा और जननांग के बीच स्थित है। इसका रंग लाल है और इसमें चार पंखुड़ियां हैं। यह पृथ्वी तत्व का प्रतीक है और इसका बीज मंत्र है लं मूलाधार में कुंडलिनी शक्ति सुप्त अवस्था में रहती है। कुंडलिनी को सांप की तरह साढ़े तीन लपेटों में लिपटी हुई कल्पना की जाती है। योग साधना का प्रथम लक्ष्य है इस कुंडलिनी को जगाना। मूलाधार चक्र हमारी मूलभूत आवश्यकताओं, सुरक्षा भावना और जीवन शक्ति से संबंधित है।

स्वाधिष्ठान चक्र जननांग के पास, मूलाधार से कुछ ऊपर स्थित है। इसका रंग नारंगी है और इसमें छह पंखुड़ियां हैं। यह जल तत्व का प्रतीक है और इसका बीज मंत्र है वं स्वाधिष्ठान चक्र हमारी भावनाओं, रचनात्मकता, कामुकता और आनन्द से संबंधित है। जब यह चक्र जागृत होता है, तो साधक में भावनात्मक संतुलन आता है और रचनात्मक शक्ति बढ़ती है।

मणिपुर चक्र नाभि के पास स्थित है। इसका रंग पीला है और इसमें दस पंखुड़ियां हैं। यह अग्नि तत्व का प्रतीक है और इसका बीज मंत्र है रं मणिपुर चक्र हमारी व्यक्तिगत शक्ति, इच्छाशक्ति, आत्मविश्वास और पाचन क्रिया से संबंधित है। जब यह चक्र जागृत होता है, तो साधक में एक विशेष तेज और ऊर्जा आ जाती है। वह कठिन कार्यों को भी सहजता से कर पाता है।

अनाहत चक्र हृदय के पास स्थित है। इसका रंग हरा है और इसमें बारह पंखुड़ियां हैं। यह वायु तत्व का प्रतीक है और इसका बीज मंत्र है यं अनाहत चक्र प्रेम, करुणा, क्षमा और सामंजस्य से संबंधित है। इसे हृदय चक्र भी कहते हैं। जब यह चक्र जागृत होता है, तो साधक के हृदय में सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा का भाव जागता है। स्वार्थ समाप्त हो जाता है और परोपकार की भावना बढ़ती है।

विशुद्धि चक्र कंठ के पास स्थित है। इसका रंग नीला है और इसमें सोलह पंखुड़ियां हैं। यह आकाश तत्व का प्रतीक है और इसका बीज मंत्र है हं विशुद्धि चक्र संचार, अभिव्यक्ति, सत्य और शुद्धि से संबंधित है। जब यह चक्र जागृत होता है, तो साधक की वाणी में शक्ति आ जाती है। वह जो भी बोलता है, वह प्रभावशाली होता है। वाक् सिद्धि प्राप्त होती है।

आज्ञा चक्र भ्रूमध्य में स्थित है। इसका रंग इंडिगो या गहरा नीला है और इसमें दो पंखुड़ियां हैं। इसका बीज मंत्र है ॐ आज्ञा चक्र को तीसरी आंख भी कहते हैं। यह अंतर्दृष्टि, सूक्ष्म दृष्टि, बुद्धि और सहज ज्ञान से संबंधित है। जब यह चक्र जागृत होता है, तो साधक में विशेष दृष्टि आती है। वह सूक्ष्म जगत को देख सकता है, भविष्य की झलक पा सकता है, और गहन सत्यों को समझ सकता है।

सहस्रार चक्र सिर के शीर्ष पर स्थित है। इसका रंग बैंगनी या सफेद है और इसमें एक हजार पंखुड़ियां हैं, इसलिए इसे सहस्रार कहते हैं। यह सभी चक्रों में सबसे उच्च और सबसे महत्वपूर्ण चक्र है। यह शुद्ध चेतना, आध्यात्मिक ज्ञान और परमात्मा से मिलन का प्रतीक है। जब कुंडलिनी सहस्रार तक पहुंचती है, तो साधक को आत्मसाक्षात्कार होता है और वह परम आनन्द की अवस्था में पहुंच जाता है।

12.3.3 चक्रों का महत्व



चक्रों का महत्व बहुआयामी है। शारीरिक स्तर पर प्रत्येक चक्र शरीर के एक विशेष भाग और उसकी क्रियाओं से संबंधित है। मूलाधार मलाशय और पेशों से, स्वाधिष्ठान जननांगों और मूत्राशय से, मणिपुर पाचन तंत्र से, अनाहत हृदय और फेफड़ों से, विशुद्धि कंठ और थायरॉइड ग्रंथि से, आज्ञा पीनियल और पिट्यूटरी ग्रंथियों से, और सहस्रार मस्तिष्क से संबंधित है। जब चक्र संतुलित होते हैं, तो संबंधित अंग भी स्वस्थ रहते हैं।

मानसिक स्तर पर प्रत्येक चक्र विशेष मानसिक और भावनात्मक गुणों से संबंधित है। जब कोई चक्र असंतुलित होता है, तो संबंधित मानसिक या भावनात्मक समस्याएं आती हैं। उदाहरण के लिए, यदि मूलाधार असंतुलित है, तो व्यक्ति असुरक्षा का अनुभव करता है। यदि अनाहत असंतुलित है, तो प्रेम करने और प्राप्त करने में कठिनाई होती है। चक्रों को संतुलित करने से मानसिक स्वास्थ्य में सुधार होता है।

आध्यात्मिक स्तर पर चक्र चेतना के विकास के सोपान हैं। जैसे-जैसे साधक निचले चक्रों से ऊपरी चक्रों की ओर बढ़ता है, उसकी चेतना का विकास होता है। मूलाधार में चेतना भौतिक जगत से बंधी होती है, लेकिन जैसे-जैसे ऊपर के चक्र जागृत होते हैं, चेतना सूक्ष्म होती जाती है। सहस्रार में पहुंचकर चेतना अपने शुद्धतम रूप में पहुंच जाती है।

चक्रों का ज्ञान और उनकी जागृति योग साधना का एक महत्वपूर्ण पहलू है। लेकिन यह भी याद रखना चाहिए कि चक्रों को जागृत करना कोई खेल नहीं है। इसके लिए गहन साधना, उचित मार्गदर्शन और नैतिक आधार आवश्यक है। बिना तैयारी के चक्रों को जागृत करने का प्रयास खतरनाक हो सकता है। इसलिए सदैव एक अनुभवी गुरु के मार्गदर्शन में ही चक्र साधना करनी चाहिए।

बोध प्रश्न

1. योगराजोपनिषद् का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. मंत्र जप के तीन प्रकार क्या हैं?
3. धारणा और ध्यान में क्या अंतर है?
4. मूलाधार चक्र का वर्णन कीजिए।
5. सहस्रार चक्र क्यों सबसे महत्वपूर्ण है?
6. राजयोग के अष्टांग क्या हैं?
7. यम और नियम में क्या अंतर है?
8. कुंडलिनी शक्ति क्या है?

12.4 चक्र ध्यान की प्रक्रियाएं

12.4.1 चक्र ध्यान की विधि

चक्र ध्यान योग साधना की एक उच्च और शक्तिशाली विधि है। इसमें साधक अपने चक्रों पर एक-एक करके ध्यान केंद्रित करता है और उन्हें जागृत करता है। चक्र ध्यान की सही विधि जानना और उसका सावधानीपूर्वक पालन करना अत्यंत महत्वपूर्ण है। सर्वप्रथम, साधक को एक शांत स्थान पर किसी ध्यान



आसन में स्थिर होकर बैठना चाहिए। पद्मासन या सिद्धासन सबसे उत्तम हैं लेकिन यदि ये संभव न हों तो सुखासन में भी बैठा जा सकता है।

बैठने के बाद साधक को अपनी रीढ़ को सीधा रखना चाहिए क्योंकि चक्र मेरुदंड के साथ स्थित हैं। हाथ घुटनों पर ज्ञान मुद्रा या ध्यान मुद्रा में होने चाहिए। आंखें धीरे से बंद कर लेनी चाहिए। फिर कुछ गहरी श्वास लेकर शरीर और मन को शांत करना चाहिए। जब मन स्थिर हो जाए, तब चक्र ध्यान प्रारंभ करना चाहिए।

चक्र ध्यान सदैव मूलाधार से प्रारंभ होता है और क्रमशः ऊपर के चक्रों की ओर बढ़ता है। पहले साधक को अपना ध्यान मूलाधार चक्र पर ले जाना चाहिए। मूलाधार का स्थान, रंग और आकार का ध्यान करना चाहिए। मूलाधार को लाल रंग के चार पंखुड़ियों वाले कमल के रूप में कल्पना करनी चाहिए। इस चक्र के बीज मंत्र लं का मानसिक जप करना चाहिए। कुछ समय तक मूलाधार पर ध्यान केंद्रित रखने के बाद, ध्यान को स्वाधिष्ठान चक्र पर ले जाना चाहिए।

स्वाधिष्ठान चक्र पर ध्यान करते समय इसके नारंगी रंग और छह पंखुड़ियों की कल्पना करनी चाहिए। बीज मंत्र वं का जप करना चाहिए। इसी प्रकार एक-एक करके सभी चक्रों पर ध्यान करना चाहिए। प्रत्येक चक्र पर कम से कम पांच से दस मिनट ध्यान करना चाहिए। जैसे-जैसे साधना में प्रगति होती है, यह समय बढ़ाया जा सकता है। महत्वपूर्ण यह है कि ध्यान गहरा और एकाग्र हो।

जब साधक सभी चक्रों पर ध्यान कर लेता है, तो उसे सहस्रार में कुछ समय रुकना चाहिए। सहस्रार में एक विशेष प्रकाश और शांति का अनुभव होता है। यहां साधक को जितनी देर संभव हो, रुकना चाहिए। फिर धीरे-धीरे ध्यान को वापस नीचे लाना चाहिए — आज्ञा, विशुद्धि, अनाहत, मणिपुर, स्वाधिष्ठान और फिर मूलाधार। अंत में कुछ गहरी श्वास लेकर धीरे से आंखें खोलनी चाहिए। यह एक पूर्ण चक्र ध्यान की प्रक्रिया है।

12.4.2 कुंडलिनी जागरण

कुंडलिनी जागरण योग साधना का सर्वोच्च लक्ष्य माना जाता है। कुंडलिनी एक सुप्त शक्ति है जो मूलाधार चक्र में निवास करती है। इसे सर्पिणी शक्ति भी कहा जाता है क्योंकि यह सांप की तरह साढ़े तीन लपेटों में लिपटी हुई होती है। जब यह शक्ति जागृत होती है, तो यह मेरुदंड के साथ ऊपर उठती है और एक-एक करके सभी चक्रों को भेदती हुई सहस्रार तक पहुंचती है। सहस्रार में इसका शिव से मिलन होता है और साधक को परम आनन्द की अनुभूति होती है।

कुंडलिनी जागरण एक गहन और शक्तिशाली अनुभव है। जब कुंडलिनी जागती है, तो साधक को मेरुदंड में एक विशेष गर्मी या ऊर्जा का प्रवाह अनुभव होता है। कुछ साधक बिजली के झटके जैसा अनुभव करते हैं, कुछ को प्रकाश दिखाई देता है, कुछ को विशेष ध्वनियां सुनाई देती हैं। प्रत्येक चक्र के जागृत होने पर विशेष अनुभव होते हैं और विशेष शक्तियां प्राप्त होती हैं।

लेकिन कुंडलिनी जागरण बिना उचित तैयारी और मार्गदर्शन के खतरनाक हो सकता है। जब कुंडलिनी अचानक और अनियंत्रित रूप से जागती है, तो इससे शारीरिक और मानसिक समस्याएं हो सकती हैं।



साधक को अत्यधिक गर्मी, बेचौनी, अनिद्रा, या मानसिक असंतुलन का अनुभव हो सकता है। इसलिए कुंडलिनी योग सदैव एक अनुभवी गुरु के मार्गदर्शन में ही करना चाहिए।

कुंडलिनी जागरण के लिए शरीर और मन की पूर्ण तैयारी आवश्यक है। षट्कर्म से शरीर को शुद्ध करना, आसन और प्राणायाम से शरीर को लचीला और शक्तिशाली बनाना, यम और नियम से मन को शुद्ध करना — ये सब आवश्यक हैं। जब शरीर और मन पूरी तरह तैयार हो जाते हैं, तब कुंडलिनी स्वाभाविक रूप से जागती है और साधक को कोई कठिनाई नहीं होती। यह एक सहज और आनन्दमय अनुभव होता है।

12.4.3 ध्यान में सावधानियां

चक्र ध्यान और कुंडलिनी योग में कुछ महत्वपूर्ण सावधानियां रखनी चाहिए। पहली और सबसे महत्वपूर्ण सावधानी यह है कि यह साधना सदैव एक योग्य गुरु के मार्गदर्शन में ही करनी चाहिए। बिना गुरु के इस मार्ग पर चलना खतरनाक हो सकता है। गुरु साधक की प्रगति को देखते हैं, उसकी कठिनाइयों को समझते हैं, और सही समय पर सही मार्गदर्शन देते हैं।

दूसरी सावधानी यह है कि साधना में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। कुछ साधक तुरंत परिणाम चाहते हैं और अत्यधिक साधना करने लगते हैं। यह गलत है। योग साधना एक धीमी और क्रमिक प्रक्रिया है। शरीर और मन को समय चाहिए अनुकूलित होने के लिए। जल्दबाजी में अधिक प्राणायाम या अधिक ध्यान करने से हानि हो सकती है। नियमित और संतुलित साधना ही सर्वोत्तम है।

तीसरी सावधानी यह है कि साधना के दौरान यदि कोई असामान्य अनुभव हो — अत्यधिक गर्मी, चक्कर आना, सिरदर्द, या मानसिक असंतुलन — तो तुरंत साधना रोक देनी चाहिए और गुरु से परामर्श लेना चाहिए। ये संकेत हो सकते हैं कि कुछ गलत हो रहा है। इन्हें नजरअंदाज नहीं करना चाहिए। शरीर और मन के संकेतों को समझना और उनका सम्मान करना महत्वपूर्ण है।

चौथी सावधानी यह है कि साधक को अपने दैनिक जीवन में भी संतुलन रखना चाहिए। उचित आहार, पर्याप्त नींद, और संयमित जीवनशैली आवश्यक है। अत्यधिक भोजन, अत्यधिक काम, अत्यधिक तनाव — ये सब साधना में बाधा डालते हैं। एक शांत, नियमित और अनुशासित जीवन योग साधना के लिए सबसे उपयुक्त है। साधक को भी नशीले पदार्थों, तंबाकू और मांसाहार से दूर रहना चाहिए क्योंकि ये तामसिक प्रवृत्तियां बढ़ाते हैं और सूक्ष्म संवेदनशीलता को कम करते हैं।

पांचवीं सावधानी यह है कि चक्र ध्यान के दौरान प्राप्त होने वाली सिद्धियों में नहीं उलझना चाहिए। जैसे-जैसे चक्र जागृत होते हैं, साधक में विशेष शक्तियां आने लगती हैं — दूसरों के विचार पढ़ना, भविष्य की झलक देखना, दूर की चीजें देखना आदि। ये सिद्धियां साधना के मार्ग में मील के पथर हैं लेकिन लक्ष्य नहीं हैं। यदि साधक इनमें फंस जाता है और इनका प्रदर्शन करने लगता है, तो उसकी आध्यात्मिक प्रगति रुक जाती है।

छठी सावधानी यह है कि साधना के दौरान आने वाले अनुभवों को गुप्त रखना चाहिए। यदि साधक हर किसी को अपने अनुभव बताता रहता है, तो साधना की शक्ति कम हो जाती है। प्राचीन परंपरा में कहा



गया है कि गुप्त साधना ही सफल होती है। केवल गुरु से ही अपने अनुभव साझा करने चाहिए, अन्य लोगों से नहीं।

सातवीं और अंतिम सावधानी यह है कि साधना के साथ-साथ नैतिक जीवन भी आवश्यक है। यम और नियम का पालन, सत्य बोलना, अहिंसा का पालन, दूसरों की सेवा करना – ये सब आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक हैं। बिना नैतिक आधार के योग साधना अधूरी रहती है। एक अच्छे योगी को पहले एक अच्छा मनुष्य होना चाहिए।

बोध प्रश्न

1. योगराजोपनिषद् में कितने प्रकार के योग बताए गए हैं?
 2. मूलाधार चक्र का बीज मंत्र क्या है?
 3. हठयोग में कितने षट्कर्म होते हैं?
 4. समाधि का क्या अर्थ है?
 5. सुषुम्ना नाड़ी कहाँ स्थित है?
-

12.5 योग साधना के परिणाम

12.5.1 शारीरिक परिणाम

योग साधना के अनेक शारीरिक परिणाम होते हैं। जब साधक नियमित रूप से योग का अभ्यास करता है, तो सबसे पहले उसके शरीर में परिवर्तन दिखाई देते हैं। शरीर लचीला हो जाता है, मांसपेशियाँ मजबूत होती हैं, और जोड़ों में दर्द कम होता है। आसनों के नियमित अभ्यास से रीढ़ की हड्डी सीधी और मजबूत होती है। यह अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि रीढ़ ही संपूर्ण शरीर का आधार है।

प्राणायाम के अभ्यास से फेफड़ों की क्षमता बढ़ती है। साधक गहरी और पूर्ण श्वास ले पाता है। रक्त में ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ती है जिससे शरीर के सभी अंगों को बेहतर पोषण मिलता है। श्वसन संबंधी रोग जैसे अस्थमा, ब्रोंकाइटिस आदि में लाभ होता है। हृदय भी मजबूत होता है और रक्तचाप संतुलित होता है। यह हृदय रोगों की रोकथाम में सहायक है।

षट्कर्म की शुद्धि क्रियाओं से शरीर के सभी अंग साफ होते हैं। पाचन तंत्र मजबूत होता है और पाचन संबंधी समस्याएं दूर होती हैं। कब्ज, अपच, गैस जैसी समस्याएं समाप्त हो जाती हैं। लीवर और किडनी भी बेहतर कार्य करते हैं। विषैले पदार्थ शरीर से निकल जाते हैं और शरीर हल्का और स्वच्छ अनुभव होता है।

चक्रों के जागरण से शरीर में एक विशेष ऊर्जा का संचार होता है। साधक को अधिक स्फूर्ति और शक्ति का अनुभव होता है। थकान और सुस्ती कम हो जाती है। नींद गहरी और शांत होती है। त्वचा पर एक विशेष चमक आ जाती है। आंखों में तेज आता है। शरीर से सकारात्मक ऊर्जा निकलती है जो दूसरों को भी प्रभावित करती है। रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है और साधक कम बीमार पड़ता है।



उम्र बढ़ने की प्रक्रिया धीमी हो जाती है। नियमित योग साधना करने वाले व्यक्ति अपनी उम्र से छोटे दिखते हैं। उनमें बुढ़ापे के लक्षण देर से आते हैं। शरीर में लचीलापन बना रहता है और हड्डियां मजबूत रहती हैं। यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है आधुनिक समय में जब अनेक लोग असमय ही बुढ़ापे के शिकार हो जाते हैं।

12.5.2 मानसिक और आध्यात्मिक परिणाम

योग साधना के मानसिक परिणाम शारीरिक परिणामों से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। जब साधक नियमित रूप से ध्यान और प्राणायाम करता है, तो उसके मन में स्थिरता आती है। मन की चंचलता कम होती है और एकाग्रता बढ़ती है। साधक किसी भी काम को अधिक ध्यान और कुशलता से कर पाता है। स्मरण शक्ति बढ़ती है और बुद्धि तीक्ष्ण होती है। छात्रों के लिए यह विशेष रूप से लाभदायक है।

मानसिक तनाव और चिंता कम होती है। आधुनिक जीवन में तनाव एक बड़ी समस्या है जो अनेक शारीरिक और मानसिक रोगों का कारण बनती है। योग साधना तनाव को कम करने का एक प्रभावी उपाय है। ध्यान और प्राणायाम से मन शांत होता है और तनाव स्वतः कम हो जाता है। साधक जीवन की चुनौतियों का सामना अधिक शांति और संतुलन के साथ करता है।

भावनात्मक संतुलन आता है। क्रोध, भय, ईर्ष्या, लोभ जैसी नकारात्मक भावनाएं कम होती हैं और प्रेम, करुणा, क्षमा जैसी सकारात्मक भावनाएं बढ़ती हैं। साधक अधिक सहनशील और समझदार हो जाता है। वह छोटी-छोटी बातों पर परेशान नहीं होता। जीवन के उतार-चढ़ाव को समान भाव से स्वीकार करता है। यह समता ही योग का वास्तविक फल है।

आत्मविश्वास बढ़ता है। जैसे-जैसे साधक योग में प्रगति करता है, उसे अपनी शक्तियों का एहसास होता है। वह समझता है कि वह अपने जीवन का निर्माता है। वह परिस्थितियों का शिकार नहीं है बल्कि उन्हें बदल सकता है। यह आत्मविश्वास उसे जीवन में सफल होने में सहायता करता है।

आध्यात्मिक स्तर पर साधक को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होने लगता है। वह समझता है कि वह केवल शरीर या मन नहीं है बल्कि शुद्ध चेतना है। यह बोध उसके जीवन को एक नई दिशा देता है। सांसारिक सफलता-असफलता उसे उतना प्रभावित नहीं करती। वह जानता है कि उसका वास्तविक लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार है।

ईश्वर या परम सत्य के प्रति श्रद्धा और प्रेम बढ़ता है। साधक को यह अनुभव होने लगता है कि इस ब्रह्मांड में एक उच्चतर शक्ति कार्यरत है। वह इस शक्ति के प्रति समर्पित हो जाता है। यह समर्पण उसे परम शांति देता है। वह जानता है कि वह अकेला नहीं है, एक दिव्य शक्ति उसकी देखभाल कर रही है।

12.5.3 योग की पूर्णता

योग की पूर्णता समाधि में है। जब साधक योग के सभी चरणों को पार कर लेता है — यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान — तो वह समाधि की अवस्था में पहुंचता है। समाधि योग का अंतिम और सर्वोच्च लक्ष्य है। इस अवस्था में साधक और ध्येय का भेद मिट जाता है। यदि साधक ने ब्रह्म को ध्येय बनाया था, तो वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। यह पूर्ण एकत्व की अवस्था है।



समाधि में साधक को अद्वितीय आनन्द का अनुभव होता है। यह आनन्द किसी भी सांसारिक सुख से असीम रूप से अधिक है। यह आनन्द बाहरी वस्तुओं पर निर्भर नहीं है बल्कि स्वयं का स्वभाव है। यह आनन्द शाश्वत है, यह कभी समाप्त नहीं होता। जो साधक एक बार इस आनन्द का स्वाद चख लेता है, वह फिर कभी सांसारिक सुखों में संतोष नहीं पाता।

समाधि में साधक को परम ज्ञान प्राप्त होता है। वह सभी सत्यों को जान लेता है। उसे अपने वास्तविक स्वरूप का पूर्ण बोध हो जाता है। वह समझ जाता है कि वह शुद्ध चेतना है, वह आनन्द स्वरूप है, वह अमर है। जन्म-मृत्यु का चक्र उसके लिए समाप्त हो जाता है। वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

लेकिन यह भी समझना चाहिए कि समाधि कोई एक बार की घटना नहीं है। प्रारंभ में समाधि क्षणिक होती है। साधक कुछ क्षणों या मिनटों के लिए समाधि में जाता है फिर वापस आ जाता है। लेकिन जैसे-जैसे साधना गहरी होती है, समाधि की अवधि बढ़ती जाती है। अंततः साधक निर्विकल्प समाधि की अवस्था में पहुँचता है जहाँ से कोई वापसी नहीं है। यह परम मुक्ति की अवस्था है।

योग की पूर्णता केवल व्यक्तिगत मोक्ष में नहीं है। एक पूर्ण योगी समाज की सेवा भी करता है। वह अपने ज्ञान और अनुभव को दूसरों के साथ साझा करता है। वह मानवता के कल्याण के लिए कार्य करता है। महान योगी जैसे महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस – सभी ने अपने जीवन को लोक कल्याण में समर्पित किया। यही योग की वास्तविक पूर्णता है – स्वयं का उद्धार और फिर दूसरों का मार्गदर्शन।

12.6 बोध प्रश्न

1. योगराजोपनिषद् में वर्णित योग के चार प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. नौ चक्रों का विवरण देते हुए उनके महत्व को स्पष्ट कीजिए।
3. चक्र ध्यान की प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन करते हुए इसमें रखी जाने वाली सावधानियों को बताइए।
4. कुंडलिनी जागरण क्या है? इसकी प्रक्रिया और परिणामों का वर्णन कीजिए।
5. योग साधना के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक परिणामों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
6. मन्त्रयोग की साधना विधि को स्पष्ट कीजिए।
7. लययोग और राजयोग में क्या अंतर है?
8. हठयोग में षट्कर्म का क्या महत्व है?
9. अनाहत और विशुद्धि चक्र का विस्तार से वर्णन कीजिए।
10. इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों को समझाइए।
11. समाधि क्या है और यह कैसे प्राप्त होती है?
12. चक्र ध्यान में बीज मंत्रों का क्या महत्व है?

